Published paper in the book "Mundeshwari Mandir
(The oldest, recorded temple in the country)", Mahavir Mandir Prakashan, 2011

मुण्डेश्वरी मन्दिर परिसर की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा

पं. भवनाथ झा

एम. ए. (संस्कृत) एवं साहित्याचार्य,
प्रकाशन एवं शोध पदाधिकारी
महावीर मन्दिर, पटना
(बिहार)

महावीर मन्दिर प्रकाशन

2011

A Hindi article Mundesvari Mandir Parisar Ki Aitihasik Evam Sanskritik Parampara (Historical and Cultural tradition of The Mundesvari Temple Premises) on Mundesvari temple Kaimur, (Bihar), India, the oldest recorded living temple in India. This article was published in the book "Mundeshwari Mandir : The oldest, recorded temple in the country", Mahavir Mandir Prakashan, 2011

नाम – **पं. भवनाथ झा**

पितृनाम – पं. अमरनाथ झा

जन्मस्थान – हटाढ़ रुपौली, झंझारपुर,
मधुबनी (बिहार)

जन्मतिथि – 23 सितम्बर, 1968 ई.

शिक्षा – एम. ए. (संस्कृत), साहित्याचार्य

प्रकाशित रचना –

(1) **बुद्धचरितम्** (अश्वघोष कृत महाकाव्य के अनुपलब्ध अंश का संस्कृत भाषा में काव्यमय अनुवाद), महावीर मन्दिर प्रकाशन से 2013 में प्रकाशित।

(2) **भ्रूण-पंचाशिका**- (कन्या-भ्रूणहत्या विषयक 50 श्लोकों का संस्कृत प्रबन्धकाव्य)

मातृभाषा मैथिली में दर्जनों कथाओं का विभिन्न पत्रिकाओं एवं संग्रहों में प्रकाशन।

सम्पादन –

(1) **अगस्त्य-संहिता**

(2) **दुर्गासप्तशती**

(3) म. म. परमेश्वर झा कृत **यक्षसमागमम्**

(4) म. म. रुद्रधर कृत **पुष्पमाला**

(5) म.म. पशुपतिकृत **व्यवहाररत्नावली**

(6) म.म. रुचिपतिकृत **नाह्निदत्तपञ्चविंशतिकाविवरणम्**।

धर्मायण, महावीर मन्दिर, पटना से प्रकाशित धार्मिक एवं सांस्कृतिक शोधपरक पत्रिका।

विशेष दक्षता –

मिथिलाक्षर एवं देवनागरी की पाण्डुलिपियों से सम्पादन का विशेष अनुभव।

सम्प्रति – प्रकाशन एवं शोध पदाधिकारी, महावीर मन्दिर, पटना

मुण्डेश्वरी मन्दिर परिसर की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा

▶▶ पं. भवनाथ झा
एम.ए. (संस्कृत), साहित्याचार्य

अक्सर इतिहासकारों ने कहा है कि ईसा पूर्व भारत का इतिहास बिहार का इतिहास रहा है। यह बिहार के लिए गौरव की बात है कि अतीत में सबसे प्राचीन गणतन्त्र वैशाली में और ठोस साक्ष्यों से ज्ञात इतिहास में सुदृढ़ राजतन्त्र मगध में स्थापित हुआ, जिसकी राजधानी यही पाटलिपुत्र नगरी रही। इस पाटलिपुत्र को लगभग एक सहस्राब्दी तक भारत के अधिकांश भाग की राजधानी रहने का गौरव प्राप्त है। निश्चित रूप से इस दीर्घ अवधि में इस मगध क्षेत्र का राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक विकास हुआ।

इसी विकास की कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण पुष्प है- भभुआ के निकट कैमूर पहाड़ी पर स्थित मुण्डेश्वरी भवानी स्थान। यह क्षेत्र वाल्मीकीय रामायण में 'करूष' के नाम से प्रसिद्ध है। बालकाण्ड में विश्वामित्र श्रीराम को इसका परिचय देते हुए कहते हैं-

एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम।
मलदाश्च करूषाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ।।17।।

अर्थात् पहले कभी यहाँ देवताओं के बसाए हुए दो बड़े नामी देश थे – मलद और करूप।।17।।

महाभारत में करूष देश के राजा का नाम वक्र आया है, जिसे जरासंध का सामन्त बताया गया है। इसने शिशुपाल का साथ दिया था।

तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः।
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः॥ सभा 14-11

शाक्त-ग्रन्थों में इस मण्डलेश्वर-पीठ को शक्ति-पीठ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वृहन्नील के चतुर्थ पटल तथा प्राणतोपिणी-तन्त्र में माकोट स्थान में मुण्डकेश्वरी शिवा का उल्लेख शक्ति-पीठ के रूप में किया गया है। साथ ही, यहाँ मण्डलेश्वर शिव की भी चर्चा आयी है।

माकोटास्ये महाकोटः शिवा च मुण्डकेश्वरी।
मण्डलेश्वरपीठे च शङ्करः खाण्डवी शिवा।।

डी०सी० सरकार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Shakta Peethas" में 'माकोटास्ये' के पाठान्तर में 'माकोटाख्ये' और 'माकोटे च' भी दिया है। ये सभी शब्द महाकोट शब्द के अपभ्रंश हैं। कैमूर की पहाड़ियों पर आज भी जितनी गुफाएँ हैं उन्हें 'कोट' कहा जाता है।

मुण्डेश्वरी भवानी मन्दिर का इतिहास साक्ष्यों के रहते हुए भी अन्धकार में है। यहाँ एक शिलालेख उपलब्ध है, जिसका महत्त्वपूर्ण अंश पढ़ लिया गया है, फिर भी इस शिलालेख का काल-निर्धारण आज तक नहीं हो पाया है। यह 108 ई० से लेकर 636 ई० के बीच झूल रहा है।

इस मन्दिर के प्राकृतिक सौन्दर्य से अभिभूत होकर 1790 ई० में थॉमस एवं विलियम डेनियल नामक दो चित्रकार यहाँ आये और इस मन्दिर का चित्र बनाया। यह चित्र पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। इसके बाद 1812 ई० में फ्रांसिस बुकानन हेमिल्टन ने तत्कालीन शाहबाद जिला के सर्वेक्षण के क्रम में इस स्थान पर स्वयं न आकर चित्रकार को भेजा। उस चित्रकार ने यहाँ की पहाड़ी, मन्दिर की भित्ति योजना, मुण्डेश्वरी की प्रतिमा, एक छोटे शिलालेख, स्तम्भ आदि का चित्र बनाया, जिसके आधार पर बुकानन ने सर्वेक्षण का प्रतिवेदन तैयार किया। 1938 ई. में माउण्टगोमरी मार्टिन ने बुकान की पाण्डुलिपि के आधार पर अपनी पुस्तक 'इस्टर्न इंडिया' के प्रथम भाग में इस मन्दिर के सम्बन्ध में जानकारी दी तथा उन चित्रों को भी प्रकाशित किया। 1878 ई० में विलियम हंटर ने बंगाल-सर्वेक्षण में इस मन्दिर की जानकारी एम० मार्टिन के आधार पर दी।

1892 में इस स्थल से एक शिलालेख का एक टुकड़ा मिला था तथा दूसरा टुकड़ा 1902-1904 के बीच मिला, जब ब्लॉच के नेतृत्व में पुरातत्त्वविद् के द्वारा पुरावशेषों को हटाया गया था। 18 पंक्ति के इस शिलालेख का सम्पादन डा० राखालदास बनर्जी ने किया, जो इपिग्राफिया इन्डिका के भाग 9 में 1907 ई0 में प्रकाशित हुआ। पुनः इसका सम्पादन एन० जी० मजुमदार द्वारा किया गया, जो इन्डियन एंटिक्विटी में अंक सं० 49 में प्रकाशित हुआ। बाद में जी० एस० गई, टी० पी० वर्मा आदि विद्वानों ने भी इस शिलालेख का अध्ययन किया। इस परिसर के सम्बन्ध में श्री कृष्णदेव, के०सी० पाणिग्रही, डी०आर० पाटिल एवं अन्य विद्वानों ने प्रकाश डाला है।

इस शिलालेख का काल निर्धारण विद्वानों ने अभी तक इस प्रकार किया है:-

1.	डा० राखाल दास बनर्जी	-	636 ई०
2.	एन० जी० मजुमदार	-	349 ई०
3.	के० सी० पाणिग्रही	-	349 ई०
4.	आर०डी० भण्डारकर	-	349 ई०
5.	जी० एस० गई	-	6ठी शती

मुण्डेश्वरी शिलालेख पर यद्यपि अनेक विद्वानों ने विचार-विमर्श किया है, फिर भी कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। शिलालेख की भाषा, लिपि-शैली, प्राप्ति-स्थल पर प्राप्त अन्य सामग्रियाँ, शिलालेख का आधार-फलक आदि पर विचार करना भी इसके तिथि-निर्धारण में आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ इन सभी बिन्दुओं पर दृष्टिपात करते हुए इस शिलालेख के काल के सन्दर्भ में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराने का प्रयास किया जा रहा है।

शिलालेख का काल-

शिलालेख की लिपि ब्राह्मी है। इसकी शैली समकोणीय है किन्तु प्रत्येक अक्षर पर शिरोरेखा स्पष्ट है जो अशोक की शिलालेखीय ब्राह्मी लिपि से इसे अलग करती है। शिलालेख के अक्षरों को हम देखें। इसमें स्य, ज्य अक्षर स्पष्टत: समकोणीय है।

कुलस्य

य से न रा ज्ये

यह समकोणीय शैली परवर्ती काल में धीरे-धीरे न्यूनकोणीय होती गयी है। अफसद शिलालेख में तो यह न्यूनकोणिकता वर्तुलाकृति में भी परिवर्तित है, जो आज तक देवनागरी एवं तिरहुता लिपि में है।

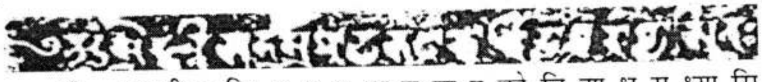

ॐ आ सी द् न्ति स ह स्र गा ढ क ट को वि द्या ध रा ध्या सि त:

इस प्रकार इस शिलालेख की लिपि अशोककालीन लिपि से अर्वाचीन एवं हर्ष काल से प्राचीन है। स्कन्दगुप्त के कहौम शिलालेख से इसकी तुलना करके देखें। इसमें समकोणिकता तो है; किन्तु मुण्डेश्वरी शिलालेख और अफसद शिलालेख के बीच की स्थिति विद्यमान है।

गु प्ता नां वं श ज स्य प्र वि सृ त य श स स्त स्य

अब नेपाल से प्राप्त जयवर्मन के शिलालेख का अध्ययन करते हैं। यह शक सं. 107 अर्थात् 185 ई० का है और जयवर्मन की मूर्त्ति के आधार पर लगा हुआ है। इस शिलालेख में भी ईकार की मात्रा अलंकृत हो गयी है। इस लेख में भी 'स' खुले मुँह वाला है।

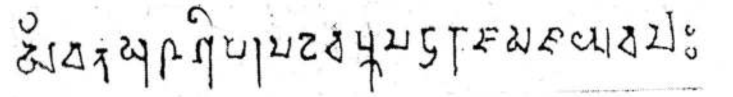

सं व त 100 7 श्री परम द व प्क म हा रा ज स ज य व म:

अब हम यदि मुण्डेश्वरी शिलालेख की तुलना हुविष्क के मथुरा शिलालेख और समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति-लेख से करते हैं तो य, व, क, प, च अक्षर हुविष्क के लेख से काफी निकट है। 'पु' में यह सबसे स्पष्ट है। प्रयाग-प्रशस्ति में उकार की मात्रा बायीं ओर वर्तुल हो गयी है, जो परवर्ती विकास है।

ये *ye*
व *v*
क *k*
प *p*
च *c*
स्य *sya*
पु *pu*

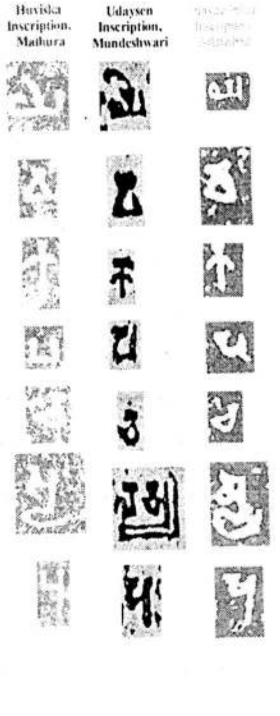

भारतीय इतिहास में गुप्तकाल स्वर्णयुग रहा है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह इस विकास का आरम्भ कुषाण काल में हुआ है। उसी काल में संस्कृत भाषा में अधिकतर बौद्ध-धर्म के ग्रन्थ लिखे गये। ब्राह्मी लिपि का व्यवहार मुक्त हस्तलेखन के लिए हुआ; फलत: ब्राह्मी में गति आयी इसलिए कुषाण काल की ब्राह्मी में विविधता का हमें अधिक दर्शन होता है।

डा. शिवस्वरूप सहाय ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय सिक्के' में कुषाणकालीन ब्राह्मी के विविध स्वरूपों का संकलन किया है जो चित्र में प्रदर्शित है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कुषाण काल में संस्कृत और बौद्ध संस्कृत लिखने के लिए जिस प्रकार की ब्राह्मी लिपि का प्रयोग हुआ है वह लिपि पाली एवं प्राकृत के लिए व्यवहृत ब्राह्मी से विकसित है। जिसमें स्वर वर्णों की मात्रा पूरी विकसित हो गयी है। जे० हरमाटर ने अपने आलेख- "Language and Literature in Kushan period" में पृ. 435 पर लिखा है:-

"The indication of the lenth of vowels is fully developed in the Brahmi script which was used to write Sanskrit and Buddist Hybrid Sanskrit. It therefore seems obvious that the of the Brahmi script in a religious or administrative centre, where the two scripts were used side by side. The spread of Brahmi towards the nort-west had already begun in Saka period". (History of civilizations of Central Asia)

यही कारण है कि इकार, उकार की मात्रा तथा विकसित प्रकार का 'स' हमें मुण्डेश्वरी शिलालेख में मिलता है। किन्तु क, ज, य, प, आदि अक्षर कुषाणकालीन हैं। अत: लिपिशैली के आधार पर इसे कुषाणकालीन मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस शिलालेख की अन्य विशेषताएँ भी इसे कुषाणकालीन सिद्ध करती है, जिनपर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

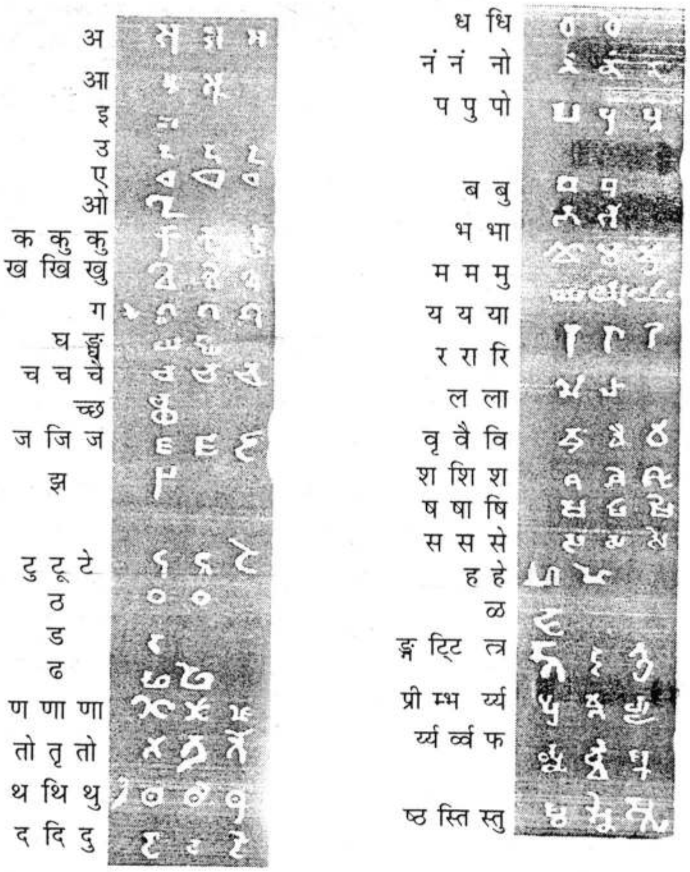

कुषाणकालीन ब्राह्मी के विभिन्न रूप।

मुण्डेश्वरी शिलालेख में विराम-चिह्न के रूप में खड़ी पाई का प्रयोग नहीं हुआ है। शिलालेख के अन्त में ''उक्तं च'' से पहले दो चिह्न हैं। इस प्रकार का चिह्न हुविष्क कालीन मथुरा प्रस्तर अभिलेख में 500 संख्या के लिए प्रयुक्त हुआ है।

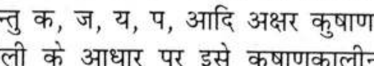

त मि ति । । उ क्तं च

सोलहवीं पंक्ति

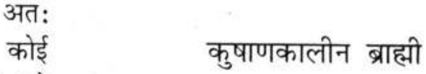

ण श त 500

हुविष्ककालीन मथुरा प्रस्तर अभिलेख की अन्तिम पंक्ति

यही चिह्न छठी और ग्यारहवीं पंक्ति के अन्त में भी है। खड़ी रेखा के रूप में विराम चिह्न का प्रयोग गुप्तकालीन शैली की विशेषता है। मुण्डेश्वरी शिलालेख में यदि उस मंगल चिह्न को विराम चिह्न मानते हैं या उसे निरर्थक चिह्न मानते हैं तो दोनों स्थितियाँ गुप्तकाल से प्राचीनता का संकेत करती है। पटना में 'मुण्डेश्वरी-शिलालेख' पर राष्ट्रीय संगोष्ठी में व्याख्यान देते हुए डा० एम० एन० कट्टी ने अभिमत व्यक्त किया था कि ये चिह्न खाली स्थान को भरने के लिए बनाये जाते थे, तब हमें मानना होगा कि इस शिलालेख में पूर्ण विराम है ही नहीं। पूर्णविराम का न होना भी इसे गुप्तकाल से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का पुष्ट प्रमाण है। स्कन्दगुप्त के इन्दौर-पत्र में विरामचिह्न खड़ी पाई है:- (अन्तिम पंक्ति)

सो प नि पा त कै श्चे ति ।।

अफसद शिलालेख में इसके लिए खड़ी पाई का व्यवहार हुआ है। देखें

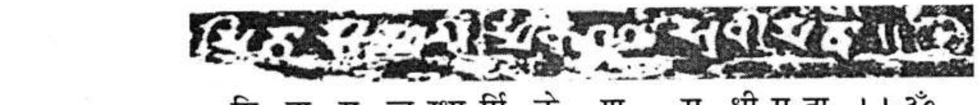

मि ता स त्व ग्धा र्मि के ण सु धी म ता ।। ॐ

अन्तिम पंक्ति

इस प्रकार स्पष्ट है कि इसमें उल्लिखित संवत्सर को गुप्तकाल के पूर्व ले जाना संगत प्रतीत होता है और तब इसे शक संवत्सर माना जायेगा, जिसका उल्लेख कुषाणकालीन अन्य अभिलेखों में हुआ है।

इसमें उल्लिखित संवत् को गुप्तों का विजय संवत् मानने पर दूसरी समस्या खड़ी होती है। तब हमें मानना होगा कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के शासन काल में उस क्षेत्र का राजा उदयसेन था जिसे महाप्रतीहार, महासामन्त एवं महाराज कहा गया है। यदि उदयसेन स्वतन्त्र शासक है और उसे गुप्त साम्राज्य से कोई मतलव नहीं तव केवल 30 वर्षों से प्रचलित गुप्तों के विजय-संवत्सर का उन्होंने व्यवहार क्यों किया? यदि हम मानें कि समुद्रगुप्त ने उसे सामन्त बनाया होगा तो शिलालेख में उसका कहीं नाम क्यों नहीं है। विरुद से स्पष्ट है कि उदयसेन स्वतन्त्र राजा था। गुप्तों की राजधानी से इतनी कम दूरी पर कोई स्वतन्त्र राजा निश्चिन्त होकर राज्य करे और मन्दिर/मठ का निर्माण करता रहे यह संगत नहीं लगता; अत: गुप्त संवत् के 30वाँ वर्प इसका काल मानने में कुछ प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं।

इस शिलालेख की भापा संस्कृत है। सामान्यतया यह माना जाता रहा है कि गुप्तकाल के पूर्व के जितने शिलालेख हैं वे सभी पालि या प्राकृत में है; किन्तु अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है भापा सम्वन्धी भिन्नता को काल-सीमा मे वाँधा नहीं जा सकता। नहपान कालीन नासिक गुहा लेख, रुद्रदामन् का जूनागढ़ अभिलेख आदि गुप्तकाल के पूर्ववर्ती संस्कृत शिलालेख हैं। इसी प्रकार धनदेव का अयोध्या प्रस्तर अभिलेख ईशा पूर्व प्रथम शताव्दी का है; फिर भी वहाँ संस्कृत का प्रयोग हुआ है। संस्कृत का प्राचीनतम शिलालेख घोसुण्डी का नारायण-वाटिका का लेख है, जिसका काल ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी है। धनदेव के शिखालेख में प्रयुक्त संस्कृत भापा भी विचारणीय है। इसमें पाणिनीय संस्कृत भापा का प्रयोग नहीं है; वल्कि प्राकृत प्रभावित संस्कृत है; जिसे भापा वैज्ञानिकों ने वौद्ध संस्कृत भापा कहा है। यहाँ 'धर्मराजेन' के स्थान पर 'धर्मराज्ञा' पाठ है, जो पाणिनि के सूत्र "राजाहःसखिभ्यष्टच्" के विपरीत है। इसी प्रकार की अपाणिनीय भापा बौद्ध अवदान-ग्रन्थों एवं अन्य वौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में मिलती है। मुण्डेश्वरी शिलालेख में भी अनेक अपाणिनीय प्रयोग हैं। जैसे – 'द्वाविंशतिमे', प्रार्थयित्वा, 'कारितकम्', अस्मिन् के साथ दिवसपूर्व्वायाम् का अन्वय करना, स्वामिपादाय के स्थान में स्वामीपादाय का प्रयोग, तण्डुलप्रस्थद्वयम् में षष्ठी के स्थान पर प्रथमा या द्वितीया का प्रयोग- ये सव सिद्ध करते हैं कि इस शिलालेख की भापा परिनिष्ठित संस्कृत से प्राचीन है। एक शव्द 'कोष्ठीकातः' विचारणीय है। पाली एवं प्राकृत दोनों भापाओं में 'कोट्ठक' शव्द अन्नागार के लिए प्रयुक्त हुए है। संस्कृत में कोष्ठ शव्द घर के मध्यभाग के लिए प्रयुक्त होता है। इस कोट्ठक का संस्कृतीकृत रूप कोष्ठक है।

मुण्डेश्वरी शिलालेख में 'दिवसपूर्व्वायां' तथा कोष्ठीकात: शब्द तात्कालिक धारा को प्रकट करते हैं। तत्कालीन भाषा की धारा में यह 'पूर्वायाम्' शब्द प्रचलन में था, जबकि शिलालेख में इसका अर्थ की दृष्टि से महत्त्व नहीं है। ''अस्मिन् संवत्सरे मासे दिवसे'' भी रहने पर अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु तात्कालिक वैभाषिक प्रवृत्ति में 'पूर्वायाम्' शब्द इतना प्रचलित हो चुका था कि लेखक ने इस शब्द को रूढ़ एवं अव्यय के रूप में ग्रहण किया और 'अस्मिन्' पुल्लिंग अथवा नपुंसक शब्द के साथ 'पूर्वायाम्' का व्यवहार कर डाला। यही प्रवृत्ति मथुरा से प्राप्त अनेक जैन मूर्ति-लेखों में भी देखते हैं।

1. वर्ष 12 के जैनमूर्ति लेख (मथुरा) में ''सं 12 व 4 दि. 10 एतस्य पूर्वायां कोट्टियातो (ग)णतो बम्भदासीयातो कुलातो उछेन। (Epigraphic Indicia, vol. X, p. 111. New Brahmi Inscriptions of the Scythian Period, R.D. Banarji)
2. वर्ष 48, मथुरा से प्राप्त सम्भवनाथ की मूर्ति के अभिलेख में ''महाराजस्य हुविषकस्य संवछरे 48 व 2 दि 17 एतस्य पूर्वायाम् कोट्टिये (गणे) बमदा...'' (तदेव, पृ. 112)
3. वर्ष 51, मथुरा से प्राप्त मूर्तिलेख में भी ''महाराजस्य देवपुत्रस्य हुविष्कस्य संवत्सरे 51 हमन्त मास 1 दिव[स]...[अस्] य[ाम्] पू[र्वा]याम्

ये सभी शिलालेख सीथियन काल के हैं किन्तु गुप्तकाल में शिलालेखों की भाषा परिमार्जित हो गयी है और यह 'पूर्वायाम्' शब्द यथावत् न रहकर पाणिनीय संस्कृत के नियमों के अनुरूप प्रयुक्त होने लगा है। गुप्तकाल के प्रायशः सभी शिलालेखों की भापा संस्कृत की परिनिष्ठित शैली में है। इनमें अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। कुछ शिलालेख तो साहित्यिक महत्त्व के भी हैं, जैसे समुद्रगुप्त का इलाहावाद लेख एवं कहौम-स्तम्भ लेख। इस प्रकार भापा के विकास की दृष्टि से भी मुण्डेश्वरी शिलालेख गुप्तकाल से भी प्राचीनतर प्रतीत होता है।

इस शिलालेख के काल निर्धारण में महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है- शिलालेख में उल्लिखित वर्ष मास एवं दिन का उल्लेख। इसमें काल का उल्लेख इस प्रकार हुआ है- ॐ सम्बत्सरे त्रिंशतितमे कार्तिकदिवसे द्वाविंशतिमे। यहाँ ऐसा संवत्सर उल्लिखित है, जिसमें मास शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में विभाजित नहीं है। यह सौर गणना पद्धति है, जिसमें संक्रान्ति से संक्रान्ति तक पूरे तीस दिनों की गणना होती है। इस पद्धति में यहाँ कार्तिक मास के वाइसवें दिन का उल्लेख किया गया है। शक संवत्सर इसी प्रकार का वर्ष है, जिसमें मेप संक्रान्ति से वर्ष का आरम्भ होता है तथा संक्रान्ति के अगले दिन से मासादि प्रारम्भ होता है। शक संवत्सर के अनुसार लिखे गये शिलालेखों में यह गणना मिलती है। जैसे कनिष्क प्रथम के काल में सारनाथ बौद्ध प्रतिमा अभिलेख में महरजस्य कणिष्कस्य सं 3 हे 3 दि 20+(2) है। कनिष्क प्रथम के काल में सुई-विहार के अभिलेख में महरजस्य रजतिरजस्य देवपुत्रस्य कनिष्कस्य संवत्सरे एकदशे सं 10 +1 दइसिकस्य मसस्य दिवसे 20+4+4।

गुप्त संवत् की प्रकृति चान्द्रगणना के अनुकूल है। यहाँ या तो शुक्लपक्ष का उल्लेख हुआ है या दिन संख्या 15 से कम है। जहाँ पन्द्रह से कम संख्या है वहाँ कृष्णपक्ष का बोध मानना चाहिए। केवल कुमारगुप्त के एक अभिलेख मानकुमर प्रतिमा अभिलेख में ज्येष्ठमास के 18वें दिन का उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि बुद्ध की प्रतिमा के अभिलेख के कारण बौद्धों की गणना पद्धति यहाँ अपनायी गयी हो। किन्तु कुमारगुप्त के ही मन्दसोर अभिलेख में **वत्सरशतेषु पञ्चसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु। यातेष्वभिरम्यः तपस्यामास शुक्ल द्वितीयया"** उल्लिखित है।

इस सन्दर्भ का भी अवलोकन आवश्यक है कि गुप्तकाल के अभिलेखों में तिथि के उल्लेख की परम्परा कैसी रही है।

1. चन्द्रगुप्त द्वितीय का मथुरा स्तम्भलेख – **वत्सरे एकषष्टे प्रथमे शुक्लदिवसे पञ्चम्याम्।**
2. चन्द्रगुप्त द्वितीय का उदयगिरि गुहालेख – **संवत्सरे 80+2 आषाढ़ मासशुक्लैकाश्याम्।**
3. चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची पाषाणलेख – **सं 90+3 भाद्रपद दि 4**
4. कुमारगुप्त द्वितीय का कर्मदण्डा शिवलिंग अभिलेख – **विजयराज्यसंवत्सरे कार्तिकमासदशमदिवसे।**
5. कु मारगुप्त का दामोदरपुर ताम्रपत्र – **संव 100+20+4 फाल्गुन दि 7**
6. बुद्धगुप्त का एरण प्रस्तर अभिलेख – **शते पञ्चषष्ट्यधिके वर्षाणां भूपतौ च बुधगुप्ते आषाढ़मास शुक्लैकादश्याम्।**
7. भानुगुप्त का एरण प्रस्तर स्तम्भलेख – **संवत्सरशते एकनवत्युत्तरे श्रावणबहुलपक्षसप्तम्याम्।**
8. विष्णुगुप्त का मंगराव अभिलेख – **राज्यसंवत्सरे गुप्तवंशे सं 110+7 श्रावण शुदि 2**

गुप्तोत्तर अभिलेखों में भी यही परम्परा रही है। प्रभावती गुप्ता के पूना ताम्रपत्र में "कार्तिकशुक्लद्वादश्यां" है और मौखरी शासक बड़वा यूप अभिलेख में भी **"फाल्गुनशुक्लस्य पंचमे दिवसे"** है। हर्ष संवत् में भी यही परम्परा है। हर्ष के मधुवन ताम्रलेख में **"संवत् 25 मार्गशीर्ष वदि 6"** है तो बाँसखेड़ा दानपत्र में संवत् **20+2 कार्ति वदि"** का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार मुण्डेश्वरी शिलालेख में उल्लिखित संवत्सर को गुप्त संवत्सर या हर्ष संवत् मानना उचित नहीं। यह शक संवत्सर माना जा सकता है। इसके अनुसार शिलालेख में उक्त मण्डलेश्वर स्वामी के मन्दिर की स्थापना का काल 108 ई. परिगणित होता है। मगध में यह काल अन्धकार में है, जिसमें मगध में उदयसेन का राज्य रहा होगा, यह मानना भले शोध की एक नयी दिशा को जन्म दे, किन्तु यह अनुमान असम्भव नहीं। इसी काल में कैमूर क्षेत्र में उदयसेन का शासन माना जा सकता है। बक्सर से कुषाणकालीन सिक्कों की प्राप्ति भी उस क्षेत्र को प्राचीन सिद्ध करता है। इस दृष्टि से इस शिलालेख का काल 108 ई. सिद्ध होता है।

शिलालेख की विषयवस्तु-

शिलालेख में 18 पंक्तियाँ हैं। इसके अर्थ के लिए इसकी वाक्य-योजना तथा अन्वय इस प्रकार है-

1. ॐ सम्बत्सरे त्रिंशतितमे कार्तिकदिवसे द्वाविंशतिमे।

अर्थ- ॐ। तीसवें संवत् में कार्तिक मास के बाइसवें दिन।

यह पृथक् वाक्य है जो लिपिकाल का संकेत करता है।

2. अस्मिन्सम्बत्सरमासदिवसपूर्व्वायाम् श्रीमहासामन्तमहाप्रतीहारमहाराजोदयसेनराज्ये कुलपतिभागुदलनम्सदेवनिकायं दण्डनायकगोमिभटेन प्रार्थयित्वा मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये विनीतेश्वरमठसमावेशं मयैतत्कारितकम्।

अन्वय- अस्मिन् सम्वत्सर-मास-दिवस-पूर्व्वायाम् श्रीमहासामन्त-महाप्रतीहार-महाराजोदयसेनराज्ये मया दण्डनायकगोमिभटेन कुलपत्तिभागुदलनम् सदेवनिकायं प्रार्थयित्वा मातापित्रोः आत्मनः च पुण्याभिवृद्धये विनीतेश्वरमठसमावेशं एतत् कारितकम्।

अर्थ- इस संवत्सर, मास एवं दिन से युक्त तिथि में श्री महासामन्त महाप्रतीहार, महाराज उदयसेन के राज्य में मुझ दण्डनायक गोमिभट के द्वारा महन्त भागुदलन के साथ साथ देवनिकाय (धार्मिक पर्षद्) की प्रार्थना कर माता पिता और अपने पुण्य की वृद्धि के लिए विनीतेश्वर मठ के अन्तर्गत इसकी स्थापना करायी गयी।

<u>देवनिकाय</u>-

यह एक राजकीय पर्षद् थी। राज्य के सभी मन्दिरों और मठों की व्यवस्था इस पर्षद् के अधिकारीगण करते थे। पंक्ति संख्या 4 में इस देवनिकाय की प्रार्थना कर उससे अनुमति लेकर मठ स्थापित करने का उल्लेख है तथा पंक्ति सं. 12 में उस पर्षद् में 50 दीनार जमा कर देने पर उस अक्षय कोष से मन्दिर में भोग-राग की व्यवस्था किये जाने का उल्लेख है।

<u>कुलपति</u>-

मठाधीश या महन्थ को कुलपति कहा गया है। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड में भी महन्त के लिए 'कुलपति' शब्द व्यवहृत हुआ है। शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' कुषाण-कालीन रचना है, इसमें भी अन्त में नायक चारुदत्त के कहने पर भिक्षु को सभी विहारों के कुलपति बनाये जाने का उल्लेख है।

चारुदत्त : सखे दृढोऽस्य निश्चयः। तत्पृथिव्याः सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्। (अंक 10 : श्लोक 58 के बाद)

यहाँ उल्लिखित कुलपति भागुदलन विनीतेश्वर मठ के महन्त थे। चूँकि उसी मठ के अन्तर्गत एक मन्दिर का निर्माण कराया गया है अत: देवनिकाय के साथ उनकी अनुमति आवश्यक थी।

<u>दण्डनायक</u>-

यह महत्त्वपूर्ण राजकीय पद था। वर्तमान में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से इसकी संगति देखी जा सकती है। उस गोमिभट ने व्यक्तिगत रूप से इस मन्दिर का निर्माण कराया है।

<u>प्रतीहार</u>-

मुण्डेश्वरी शिलालेख में महाप्रतीहार शब्द का उल्लेख हुआ है इस 'प्रतीहार' शब्द का प्रयोग बोधगया में प्राचीन रेलिंग पर हुआ है। इन लेखों पर कनिंघम ने 'महाबोधि' पुस्तक में इसकी सूचना दी है तथा बी० एम० बरुआ ने अपने निबन्ध Old Buddist Shrines at Bodh-Gaya Inscriptions इस पर ।ववेचन किया है। यह निबन्ध The Indian Historical Quarterly में मार्च 1930 ई० में प्रकाशित हुआ। बोधगया के इस रेलिंग लेखों में प्रतिहार द्वारा दान दिये जाने का उल्लेख हुआ है।

1. पतिहार [कस]ना . [स] दानम् [।]

शुंगकालीन इस शिलालेख का अनुवाद करते हुए बी० एम० बरुआ लिखते हैं:-

"The gift of (the city judiciary) of Pratihar"

मुण्डेश्वरी शिलालेख में 'महाप्रतीहार' City judiciary के अर्थ में माना जा सकता है।

<u>महासामन्त</u>-

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी 'सामन्त' शब्द का व्यवहार हुआ अनेक स्थलों पर हुआ है-

1. **प्रसाध्य शत्रुं यन्मित्रं वृद्धं गच्छेदवश्यताम्। सामन्तैकान्तराभ्यां तत्प्रकृतिभ्यां विरोधयेत्।।** (षाड्गुण्याधिकरण : अध्याय : 18) यहाँ कहा गया है कि जो मित्र राजा शत्रुओं को जीतता हुआ बढ़ रहा हो उसके साथ सामन्त एवं विरोधी राजाओं से शत्रुता करानी चाहिए।

2. **सामन्तो बलवतः प्रतिघातोऽन्तर्धिः प्रतिवेशो वा बलवतः पार्ष्णिग्राहो वा स्वयमुपनतः प्रतापोपनतो वा दण्डोपनत इति भृत्यभाविनः सामन्ताः।।** (षाड्गुण्याधिकरण : अध्याय : 18) अर्थात् बलवान् शत्रु ने जिसपर आक्रमण किया हो या उसके अगल-बगल का बलहीन राजा हो या बलवान् राजा ने जिस राजा को शत्रु की चेष्टा पर नजर रखने के लिए कहा हो, स्वयं मैत्री या शरण की कामना से आया हो, प्रताप से अभिभूत होकर समीप आया हो अथवा उस दण्डित कर उसे अपने कब्जे में किया गया हो ऐसे राजा के साथ भृत्य के समान व्यवहार करना चाहिए और उसे "सामन्त" कहना चाहिए।

3. **पार्ष्णिग्राहास्त्रयो ज्ञेयाः शत्रोश्चेष्टानिरोधकाः। सामन्ताः पृष्ठतो वर्गः प्रतिवेशो च पार्श्वयोः।।** (षाड्गुण्याधिकरण : अध्याय : 16) यहाँ शत्रु की गतिविधियों पर नजर रखने तथा उसपर अंकुश लगानेवालों के लिए सामन्त को उपयोगी माना गया है।

4. **बलवत् सामन्तया संहतबलम्।** (षाड्गुण्याधिकरण : अध्याय : 16) यहाँ कहा गया है कि बलवान् सामन्त से भूमि छीनकर अपने सेना नायक के साथ साथ उसके अधीन सैनिकों को भूमि देनी चाहिए।

5. **उदासीनं च यस्तिष्ठेत् सामन्तैस्तद् विरोधयेत्।।** (षाड्गुण्याधिकरण : अध्याय : 18) अर्थात् जो पड़ोसी राजा उदासीन है, उसे सामन्तों के साथ लड़ा देना चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य के काल से ही सामन्त के रूप में विशेष प्रकार के राजा का अस्तित्व राजनीति में रहा है। यहाँ उदयसेन को यह उपाधि अधीनस्थ राजा का बोध कराने के लिए नहीं बल्कि प्रतिष्ठित (महा) सामन्त के रूप में दी गयी है।

हरिवंश में 'सामन्त' शब्द का व्यवहार राजा, पड़ोसी राजा के अर्थ में हुआ है:-

1. **सामन्तेषु नरेन्द्रेषु प्रतापस्ते प्रकाशितः। मित्राणि त्वां भजिष्यन्ति संश्रयिष्यन्ति पार्थिवाः।।** विष्णुपर्व 32।20
2. **निहतामित्रसामन्तं स्फीतं कृतयुगे यथा।।** विष्णुपर्व 25।20
3. **न हि सामन्तमिच्छन्ति राजानो बलशालिनम्।।** (वार्टरबख के जर्मन-संस्कृत शब्दकोष में उद्धृत)

यहाँ विचारणीय है कि हरिवंश पुराण महाभारत का अंश है और इसे सम्मिलित करने पर ही महाभारत का विस्तार एक लाख श्लोकों का हो जाता है और गुप्तकाल में महाभारत को लक्षश्लोकात्मक कहा गया है। इसलिए 'सामन्त' शब्द 'राजा' के अर्थ में ही, गुप्तकाल से पहले भी प्रचलन में था।

मयैतत्कारितकम्- इसे आर० डी० बनर्जी ने 'मठमेतत्कारितकम्' पढ़ा है तथा एन० जी० मजुमदार ने 'मयेतत्कारितकम्' पढ़ा है। वस्तुतः 'य' कार के साथ ऐकार का चिह्न भी यहाँ प्रतीत होता है। यहाँ 'म' के बाद एक त्रिभुजाकार आकृति है और उससे सटा हुआ फिर 'म' से मिलती हुई आकृति है। यदि इन दोनों को हम एक अक्षर मानें तो इसे 'य' पढ़ा जायेगा। इस शिलालेख में 'ठ' अक्षर वृत्त की तरह लिखा गया है (विनीतेश्वरमठसमा) अतः इसे 'ठमे' नहीं पढ़कर 'ये' पढ़ना अधिक संगत होगा। संभवतः बनर्जी महोदय ने भाषाशुद्धि (मयेतत् >मयैतत्) के कारण मठमेतत् पढ़ना श्रेयस्कर समझा।

म ये त त्का रि त कं

वि नी ते श्व र म ठ स मा

इसके साथ-साथ 'कुलपतिभागुदलनम्सदेवनिकायम्' में 'म्स' के स्थान पर दोनों ने 'स्स' पढ़ा है, लेकिन डा० कृष्णचन्द्र पाणिग्रही ने 'भानुभटमस्मद्देवनिकायम्' पढ़ा है। जिस आकृति को पाणिग्रही 'ट' पढ़ते हैं वह वस्तुतः 'द' ही है; क्योंकि उसी के नीचे 'भटेन' का 'ट' बिल्कुल अलग ढंग से लिखा गया है। इसलिए पाणिग्रही का पाठ उचित प्रतीत नहीं होता है। बनर्जी ने ''सः कुलपति भागुदलनः गोमिभटेन देवनिकायं प्रार्थयित्वा'' अन्वय मानकर भागुदलन को कर्ता माना है, तब 'कारितकम्' के साथ उसकी संगति नहीं बैठती है। इस पंक्ति का अनुवाद बनर्जी ने इस प्रकार किया है-

+ + + + The Kulapati Bhagudalan having applied to the council of gods (? Brahmanas) through the Dandnayak Gomibhata built the math of the Devakul of Narayana ------- near the temple of Viniteshwara.

जबकि मजुमदार इससे सर्वथा भिन्न अर्थ प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

'The establishment of this Viniteshwar math has been made by me, the Dandnayaka Gomibhata after having propitiated the kulapati Bhagudalan together with the temple committee.

मजुमदार ने अपने अनुवाद में भागुदलन को कर्म (object) माना है किन्तु उनके पाठ के अनुसार वह कर्ता (subject) है। यहाँ 'म्स' वर्ण में ऊपर का अक्षर स है तथा नीचे म है। इस प्रकार यह 'स्म' पढा जायेगा। लेकिन **कुलपतिभागुदलनस्मदेवनिकायं** की अर्थसगंति नहीं होने के कारण 'म्स' पढ़ेंगे और यह मान लेगें कि जैसे 'चिह्न' शब्द के बदले भ्रमवश 'चिन्ह' लिखा जाता है, उसी प्रकार यहां भी लिपिकार को भ्रम हुआ है। अतः इसे मैंने 'म्स' पढ़ा है। 'स्स' अक्षर की आकृति इस शिलालेख में भिन्न प्रकार से है जो नीचे उद्धृत है:-

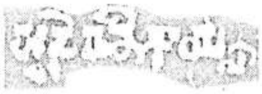

स्म(म्स)देवनिका य म्

म हा पा त कै स्स

3. श्रीनारायणदेवकुलस्य श्रीमण्डलेश्वरस्वामीपादाय कोष्ठीकातः आचन्द्रार्कसमकालीयमक्षयं प्रतिदिनं नैवेद्यार्थं तण्डुलप्रस्थद्वयं दीपतैलपलस्य च औपनिबन्धः कारितः।

अन्वय- श्रीमण्डलेश्वरस्वामीपादाय श्रीनारायणदेवकुलस्य कोष्ठीकातः आचन्द्रार्कसमकालीयमक्षयं प्रतिदिनं नैवेद्यार्थं तण्डुलप्रस्थद्वयं दीपतैलपलस्य च औपनिबन्धः कारितः।

अर्थ- श्रीमण्डलेश्वरस्वामी के लिए नारायण के मन्दिर के अन्नागार से जब तक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे तब तक प्रतिदिन भोग लगाने के लिए दो प्रस्थ चावल और दीप के लिए एक पल तेल का अक्षय प्रबन्ध कराया गया।

देवकुल- इसका सीधा अर्थ है मन्दिर। यहाँ श्रीनारायण देवकुल का उल्लेख हुआ है। यह लक्ष्मी-नारायण मन्दिर इस परिसर से बाहर का मन्दिर है, जो अन्न के मामले में समृद्ध है। उस मन्दिर के अन्नागार से प्रतिदिन उक्त मात्रा में चावल और तेल की व्यवस्था करना यहाँ अभिप्रेत है।

4. श्रीमण्डलेश्वरस्वामीपादानां विच्छित्तिविश्रान्ततन्त्रसाधारणं पञ्चाशतां दीनाराणां गोवत्सद्विजभक्ताद्युपकरणानि देवनिकायस्य दत्तम्।

अर्थ- श्रीमण्डलेश्वरस्वामी के लिए अखण्डित व्यवस्था के अधीन पचास दीनार के मूल्य के बराबर वस्तुएँ गाय, बालक, ब्राह्मण एवं भक्तों के लिए देवनिकाय (धार्मिक पर्षद्) को दी गयी।

यहाँ का शिलालेख इस प्रकार है-

गो ब भ क्ता द्यु प क र णा नि

यहाँ भ से पहले का अक्षर खण्डित है किन्तु समानान्तर रेखा दीखने के कारण 'ज' का अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि उस रेखा में भी गहराई नहीं है जिससे कि उसे लिपि का अंश माना जाए। 'ग' तो इसे कतई नहीं पढ़ा जा सकता। खण्डित अंश के लिए विद्वानों ने 'लिस्रज', 'लिस्रग्' दिया है। किन्तु गाय का भोजन एवं माला दोनों प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। उस काल में इन वस्तुओं के लिए स्वर्णदान का बात जँचती नहीं। 'भक्त' शब्द का अर्थ 'भात' एवं 'उपासक' दोनों हो सकते हैं, लेकिन चावल पकाने पर भात कहलाता है, जिसका प्रत्यक्ष दान हो सकता है, उसके लिए अक्षयनीवी का प्रावधान अटपटा लगता है। तण्डुल के लिए अक्षयनीवी का प्रावधान होना चाहिए। इसलिए मैंने 'गोब[व]त्सद्विजभक्ताद्युपकरणानि' माना है, जिसके अनुसार यह दान गाय, बच्चा, द्विज एवं उपासकों, सेवकों के हित में किया गया है।

दीनार- 'दीनार' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उणादि सूत्र में दीङ् धातु से आरुट् प्रत्यय का विधान किया गया है। इसे 3 सुवर्ण के बराबर परिमाण का सिक्का माना गया है। भारत में इसका प्रचलन कनिष्क के काल से ही हो गया था। उस समय यह 'देनेरियस' के नाम से प्रचलित था, जिससे संस्कृत में 'दीनार' शब्द अस्तित्व में आया। नहपान कालीन नासिक लयण-लेख (वर्ष 41, 42, 45) में 1000 कार्षापण के बदले 35 सुवर्ण देने का उल्लेख है तथा उस समय 20 कार्षापण से 20 भिक्षुओं के लिए चीवर की व्यवस्था एक वर्ष तक होती थी। इस प्रकार यदि हम मुण्डेश्वरी शिलालेख को दूसरी शताब्दी का मानते हैं तो 50 दीनार 150 सुवर्ण के बराबर है और 4285 कार्षापण के बराबर है जिससे इतने लोगों के लिए सालभर वस्त्र की व्यवस्था हो सकती है।

यहाँ कुछ विद्वानों ने 500 दीनार अर्थ करने का प्रयास किया है। पाँच सौ का अर्थ मानने के लिए पंचशतं होना चाहिए। लेकिन 'ञ्च' एवं 'त' में आकार के कारण शिलालेख में 'पञ्चाशतां' स्पष्ट है। केवल 50 मानने पर हमें इतना ही मानना होगा कि 'पञ्चाशत्' शब्द के षष्ठी बहुवचन में प्रयोग किया गया है, जो पाणिनि के अनुसार नहीं होना चाहिए।

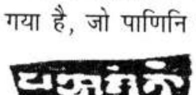

प ञ्चा श तां

5. एतदेवं विदित्वा यथाकालाध्यासिभिरापोवनिकैर्वा यथानिबद्धस्य विघटो न कार्यः।

अर्थ- इस प्रकार इसे जानकर समयानुसार देवनिकाय के अधिकारी गण (अध्यासिभिः = अधि + अस्) या जल और इन्धन की व्यवस्था करनेवालों के द्वारा जैसा कहा गया है उसमें व्यवधान नहीं किया जाना चाहिए।

आपोवनिक- आपस् (जल) एवं वन (जंगल) से सम्बद्ध अधिकारी अथवा मजदूर। पहाड़ी के ऊपर जल पहुँचाना एक कठिन कार्य था। इसे करने के लिए नियमित सेवक रहे होंगे। इसके साथ ईन्धन की व्यवस्था करना वन से सम्बद्ध सेवकों का कार्य रहा होगा। इन दोनों को 'आपोवनिक' कहा गया है। 'महावस्तु' दिव्यावदान आदि बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में 'कोष्ठागारिक' (दिव्यावदान 81।17-18), 'ग्रामिक' (महावस्तु 20116) 'आरामिक' आदि शब्द अधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

पंक्ति संख्या 13 के प्रारम्भ में बनर्जी ने 'रापोवनिकैर्वा' पाठ माना है जबकि मजुमदार ने 'तपोवनिकैर्वा' माना है। बनर्जी का पाठ अधिक संगत प्रतीत हो रहा है। इस शिलालेख में 'त' अक्षर भिन्न प्रकार से लिखा गया है, जो यहाँ स्पष्ट है:-

रा पो व नि कै र्व्वा दी ना रा णां का रि त:

साथ ही, यह पंक्ति शपथ है। दीनार राजकीय पर्षद् के कोष में दिया गया। उस धन का दुरुपयोग न हो इसके लिए यथाकाल नियुक्त देवनिकाय के अधिकारी तो शपथ के पात्र हैं, किन्तु जो तपोवन में रहते हुए तपस्या करते हैं वे भला कैसा विघटन कर पायेंगे। हाँ, जो भृत्य या अधिकारी वेतन लेकर वन से लकड़ी एवं जल की व्यवस्था के लिए नियुक्त थे, उनके प्रति विघटन की आशंका थी, अत: यहाँ 'रापोवनिकै:' पाठ अर्थ की दृष्टि से भी अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रहा है।

एवमभिश्रावितो योन्यथाकुर्यात्स महापातकैस्सनरके वसेत्।

अर्थ- इस प्रकार घोषणा सुनाने पर जो इससे भिन्न कार्य करेंगे वे महापातकों के साथ नरक में जायेंगे।

एवं अवधारणया मध्य ....भाक.................तमिति॥

अर्थ- इस प्रकार की धारणा से ....।

यहाँ पंक्ति खण्डित है किन्तु आगे के श्लोक से यह स्पष्ट है कि ऊपर दी गयी व्यवस्था का पालन करनेवाले पुण्य के भागी बनेंगे।

उक्तञ्च-

पूर्वदत्तां द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्षयुधिष्ठिर।
महीं महीवतां श्रेष्ठ दानाच्छेयोऽनुपालनम्॥

अर्थ- कहा भी गया है- हे भू-स्वामियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! पूर्वकाल में ब्राह्मण आदि को जो भूमि दान में दी गयी है उसकी रक्षा यत्नपूर्वक करो। पूर्व में की गयी व्यवस्था का पालन करना दान देने से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

इस श्लोक का दूसरा एवं चौथा चरण शिलालेख में स्पष्ट है। यह श्लोक कुमारगुप्त के दामोदरपुर दानपत्र में भी आया है। उस लेख से यहाँ खण्डित अंश की पूर्ति की गयी है। महाभारत के अनुशासन पर्व में 62वें अध्याय में भूमिदान का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। उसी अध्याय से यह श्लोक प्रभावित है।

मन्दिर की वास्तु-संकल्पना

वर्तमान में मन्दिर का जो गर्भगृह बचा हुआ है; वह भीतर से तान्त्रिक यन्त्र का भू-पुर सदृश है। तान्त्रिक यन्त्रों में बाहरी आवरण को भू-पुर कहा गया है। इसके अन्य नाम भी ग्रन्थों में मिलते हैं- भवन-कोण, धरणी-सदन, भू-गृह आदि। इनमें भू-पुर का प्रचलन अधिक है।

शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य-लहरी' में श्री-यन्त्र का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है-

चतुर्भि: श्रीकण्ठै: शिवयुवतिभि: पंचभिरपि प्रभिन्नाभि: शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभि:।
त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाब्जत्रिवलयत्रिरेखाभि: सार्धं तव भवनकोणा: परिणता:।।११।।

इसकी व्याख्या में पृथ्वीधराचार्य (14 वीं शती) ने चतुर्भि: श्रीकण्ठै: का तात्पर्य चार द्वारों से माना है। मुण्डेश्वरी मन्दिर के चार द्वारों से इसकी समानता है।

रुद्रयामल-तन्त्र में इस आवरण को धरणी-सदन कहा गया है-

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्मं मन्वस्त्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रराजमुदितं परदेवताया:।।

आचार्य महीधर ने इस वेष्टन / आवरण को भू-पुर कहा है:-

माया सम्पुटितां साध्याभिधामादौ समालिखेत् तस्या उपाधयश्चापि मायाबीजचतुष्टयम्
तद् वेष्टयेद् भूपुरेण रेखाद्वितयसंयुतम्।। (20।21-22)

रामतापिनीयोपनिषद् में इसे भू-गृह कहा गया है–

विलिखेन्मन्त्रराजार्णास्तेषु पत्रेषु यत्नतः। ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै।।51।।

द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्वहिः। भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम्।।52।।

तान्त्रिक यन्त्रों में श्रीयन्त्र प्राचीनतम है। सोवियत विश्वविद्यालय में श्रीयन्त्र पर शोध कार्य करते हुए भौतिकी और गणित के विद्वान् डा. कुलाईचेव ने स्वीकार किया है कि श्रीयन्त्र का प्रचार ईशा से हजार वर्ष पहले तक भारत में था तथा बाद में चीन, तिब्बत, जापान और नेपाल में भी हुआ। इस श्रीयन्त्र में भूपुर में चार द्वार हैं तथा इसके भीतर सभी देवताओं का स्थान निर्धारित है।

इस मन्दिर की वास्तु अपने आप में अनूठी है। वाहर से मन्दिर अप्टफलक है। चारों दिशाओं में द्वार हैं और चार कोणों में वाहर से ताखे वने हुए हैं, जिनमें दिक्पालों की मूर्तियाँ रही होंगी। साथ ही इन ताखों के दोनो ओर भी छोटे छोटे दो दो ताखे हैं जो सम्भवतः दीपाधार हैं। ब्रिटिश काल में चारों द्वारों में से पूर्वी द्वार को जाली से वन्द कर दिया गया है और वहाँ छत को सहारा देने के लिए एक स्तम्भ खड़ा कर दिया गया है। उत्तरी द्वार पुरातत्त्व विभाग के द्वारा वन्द कर वहाँ छोटी-छोटी मूर्तियों के साथ गणेश की प्रतिमा रख दी गयी है। वर्तमान में श्रद्धालुओं के लिए दक्षिणी और पश्चिमी द्वार खुले हैं। पूर्वी द्वार के पास पत्थर का एक विशाल भाण्ड रखा हुआ है, जो सम्भवतः अन्न रखने के लिए वनाया गया होगा। द्वारों से प्रवेश करने पर मन्दिर के अन्दर आयताकार स्थान है; जिसके आगे पुनः संकीर्ण हो गया है। इस प्रकार मन्दिर के गर्भगृह में भित्ति-संरचना ऐसी है कि यह तान्त्रिक यन्त्र के भू-पुर सदृश हो जाती है। ऐसी संरचना अन्यत्र नहीं मिली है। तान्त्रिक सिद्धान्तों के अनुसार यन्त्र देवतायतन की अनुकृति है तथा सम्पूर्ण व्रह्माण्ड की ऊर्जा इसमें संरक्षित होती है। यन्त्र के भू-पुर की आकृति का प्रभाव इसकी वास्तु पर है। मन्दिर के भीतर तथा वाहर की ओर से 44 कोण वनते हैं। इसका वास्तु-शिल्प भी उस अवस्था का संकेत करता है, जव मन्दिर निर्माण की कोई स्थापित शैली नहीं थी; स्तूप, विहार, चैत्य, गुफा आदि का ही निर्माण प्रचलित था। उस समय शिल्पी ने तान्त्रिक यन्त्र की अनुकृति में इसकी भित्ति-संकल्पना की। हलाँकि यह भी असम्भव नहीं कि उस भित्ति संकल्पना पर दूसरा मन्दिर परवर्ती काल में वनाया गया हो; किन्तु यह अनूठी भित्ति-संकल्पना मन्दिर-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था का संकेत करती है जो भू-पुर पर आधारित है। उदाहरण के लिए लगभग 250 वर्प प्राचीन एक तन्त्र-मर्मज्ञ के हाथ का वनाया हुआ 'महिप-मर्दिनी-यन्त्र' की आकृति देखें।

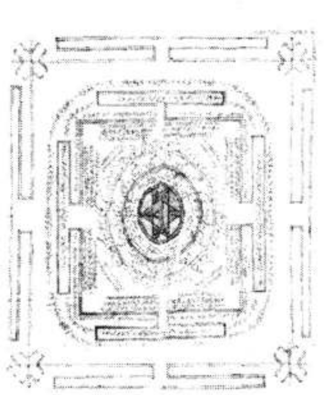

महिषमर्दिनी यन्त्र

चूँकि तन्त्र की परम्परा गोपनीय रही है और केवल उचित अधिकारी को ही शिक्षा देने की अवधारणा रही है; अतः इसमें प्राचीनता की सुरक्षा हुई है। इस महिपासुरमर्दिनी यन्त्र का जो मध्यवर्ती कमल-चक्र है, वह मन्दिर के शिखर पर स्थापित किया गया था, जिसके ध्वंसावशेप उपलव्ध हैं। इस यन्त्र में भी दो भू-पुर हैं। केवल कोणों को मन्दिर की वास्तु के अनुरूप वर्गाकार न वना कर सीधी भित्ति दे दी गयी है; किन्तु वाहर वने ताखे के आधार के चारों कोणों से गर्भगृह को कोणों तक रेखा खींचने पर भित्ति की मोटाई अधिक होने के कारण समानता स्पष्ट हो जायेगी। इस प्रकार यह मन्दिर तान्त्रिक यन्त्र के अनुरूप सम्पूर्ण व्रह्माण्ड की ऊर्जा से परिपूर्ण है।

अव तान्त्रिक यन्त्रों की सामान्य अवधारणा पर विचार करें तो इसकी कर्णिका पर शिवलिंग स्थापित है। इसे अग्नि-मण्डल कहा जाता है। वर्तमान में चारों दिशाओं के द्वार तथा चारों कोणों पर जो ताखे वने हुए हैं, उनमें अग्निकोण पर अग्निदेव, नैर्ऋत्य कोण पर निर्ऋति, वायव्य कोण पर वायुदेव तथा ईशान कोण पर शिव की मूर्ति रही होगी। इसे चन्द्रमण्डल कहा जाता है। इसके वाहर सूर्यमण्डल ध्वस्त हो चुका है, जहाँ चारों दिशाओं में से दक्षिण में मुण्डेश्वरी , पूर्व में गणेश एवं कार्तिकेय, पश्चिम में विष्णु, तथा उत्तर में सूर्य, के मन्दिर रहे होंगें, जिनमें मुण्डेश्वरी मन्दिर का स्थान तो स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। इन्हें प्राचीर से जोड़कर परिक्रमा पथ वनाया गया होगा तथा इस प्राचीर के वाहर भी ताखे रहे होंगे, जिनपर पूर्व में इन्द्र, दक्षिण में यमराज, पश्चिम में वरुण तथा उत्तर दिशा में कुवेर की प्रतिमा रही होगी। इस सूर्यमण्डल में चारों कोणों पर द्वार की संकल्पना होनी चाहिए, जो मूल गर्भ-गृह में स्थित शिवलिंग के चारों मुखों की दिशा में रहे होंगे।

मुण्डेश्वरी में स्थापित 'मुखलिंगम्' चतुर्मुख प्रकार का शिवलिंग है। इस प्रकार के शिवलिंग के विषय में वासुदेवशरण अग्रवाल का मानना है कि कुषाणकाल में मथुरा शिल्प शैली में इस प्रकार के शिवलिंग उस परिस्थिति में बनाये गये जब पाशुपताचार्यों ने 'पञ्चब्रह्म सिद्धान्त' का विकास किया था। डा० उदय नारायण उपाध्याय ने स्पष्ट किया है कि गुप्तकाल की कला में 'एकमुखलिंग' का निर्माण विशेष रूप से किया गया।

मन्दिर के शिखर की प्रस्तावित परिकल्पना

मन्दिर का शिखर पूर्ण रूप से ध्वस्त हो चुका है, जिसका अवशेप भी इतना खण्डित हो चुका है कि उसके आधार पर शिखर की कल्पना करना शायद सम्भव नहीं है। शिखर के आमलक के दो खण्ड मन्दिर के प्रांगण में सुरक्षित हैं, जो वर्गाकार फलक के बीच वृत्ताकार मण्डल के रूप है। वृत्ताकार मण्डल की परिधि ३६ इंच है तथा वर्ग की एक भुजा ८२ इंच है।

मन्दिर का आधार अष्टफलक है अतः इसका शिखर भी उसके अनुरूप होना चाहिए। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो श्रीयन्त्र का त्रिविमीय स्वरूप इस मन्दिर के शिखर के रूप में कल्पित किया जा सकता है। आधार यदि श्रीयन्त्र के रूप में है तो शिखर भी उसी के अनुरूप होना चाहिए।

अब हम श्रीयन्त्र के स्वरूप की ओर दृष्टिपात करें। श्रीयन्त्र के चित्र में सबसे मध्य में जो बिन्दु है, वह त्रिविमीय रूप में शिखर का कलश हो जाएगा तथा सबसे बाहर का जो प्रथम आवरण है, वह नीचे का आधार हो जायेगा।

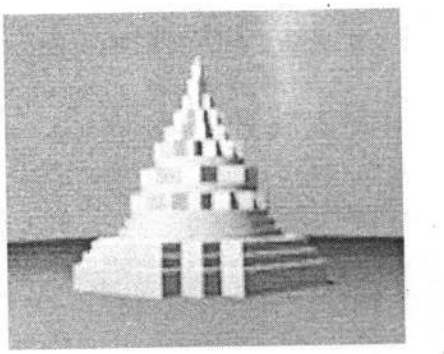

श्रीयन्त्र का त्रिविमीय रूप

श्री यन्त्र के सबसे बाहर तीन भूपुर होते हैं जो अष्टफलक होते हैं। इसे **त्रैलोक्यमोहन नामक प्रथमावरण** कहा गया है। इस प्रकार आठ दिशाओं की आकृति बनती है, जिन आठ दिशाओं में आठ सिद्धियाँ, शक्तियाँ तथा मुद्राएँ प्रतिष्ठित हैं। दिशाओं तथा उनमें प्रतिष्ठित सिद्धयों और शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं–

पूर्व –	अँ अणिमासिद्धिः, ब्राह्मीशक्तिः,	ॐ द्रां सर्व्वसंक्षोभिणी मुद्रा
आग्नेयी –	वं वशित्वसिद्धिः, वाराही शक्तिः,	सं सर्व्वोन्मादिनी मुद्रा
दक्षिणा –	मं महिमा सिद्धिः, माहेश्वरी शक्तिः,	ह्रीं सर्व्वविद्रावणी मुद्रा
नैर्ऋत्या	प्रां प्राकाम्यसिद्धिः इन्द्राणीशक्तिः	क्रां सर्व्वमहाङ्कुशामुद्रा
पश्चिमा –	लं लघिमा सिद्धिः, कौमारी शक्तिः	क्लीं सर्व्वाकर्पिणी मुद्रा
वायव्या –	भुं भुक्तिसिद्धिः, चामुण्डा शक्तिः	हं भं सं मं सर्व्वखेचरी मुद्रा
उत्तरा –	ईं ईशित्वसिद्धिः शाङ्करी शक्तिः	व्लूं सर्व्ववशङ्करी मुद्रा
ऐशानी	हूं इच्छा सिद्धिः महालक्ष्मी शक्तिः	हं स्रीं सर्व्ववीजमुद्रा

मन्दिर में इस स्तर में तीन सतह होंगे, जिन्हें छोटा करते हुए एक के ऊपर एक रखा जायेगा। चित्र सं. 1 में बीच में जो वर्ग है, उसे खाली रखा जायेगा।

प्रथम आवरण के भीतर तीन वृत्तों का मण्डल होता है तथा उसके भीतर द्वितीय आवरण होता है। द्वितीय आवरण में 16 त्रिभुज होते हैं। (चित्र सं. 2) **सर्वाशापरिपूरकचक्र** नामक इस द्वितीयावरण में स्थित १६ देवों के नाम पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर इस प्रकार हैं–

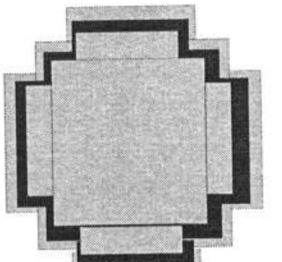

चित्र सं. 1 प्रथम स्तर

1. अँ कामाकर्पिणी अ कामेश्वरी नित्या, 2. आँ वुद्धयाकर्पिणी आ भगभामिनी नित्या, 3. इँ अहङ्काराकर्पिणी इ नित्यक्लिन्ना नित्या, 4. ईँ शव्दाकर्पिणी ई भेरुण्डा नित्या, 5. उँ स्पर्शाकर्पिणी उ वह्नि वासिनी नित्या, 6. ऊँ रूपाकर्पिणी ऊ महावशेश्वरी नित्या, 7. ऋँ रसाकर्पिणी ऋ शिवदूती नित्या, 8. ॠँ गन्धाकर्पिणी ॠ त्वरिता नित्या, 9. लृँ चित्ताकर्पिणी लृ कुलसुन्दरी नित्या, 10. लॄँ धैर्य्याकर्पिणी लॄ नित्या नित्या, 11. एँ स्मृत्याकर्पिणी एँ मीनपताका नित्या, 12. ऐँ नामाकर्पिणी ऐ विजया नित्या, 13. ओँ वीजाकर्पिणी ओ सर्व्वमङ्गला नित्या, 14. औँ आत्माकर्पिणी औ ज्वालामालिनी नित्या, 15. अं अमृताकर्पिणी अं चित्रा नित्या, 16. अः शरीराकर्पिणी अः महा नित्या,

इस द्वितीय आवरण के ऊपर भी एक वृत्तमण्डल होता है तथा इसके भीतर एक अष्टकोणीय आवरण रहता है। इसे सर्वसंक्षोभणचक्र नामक तृतीय आवरण माना गया है। (चित्र सं. 3) इसके आठ त्रिभुजों पर पूर्व दिशा से आरम्भ कर निम्नलिखित देवों का निवास माना गया है।

पूर्वा 1. कं खं गं घं ङं अनङ्गकुसुमा
ऐशानी 8. लं झं अनङ्गमालिनी
उत्तरा 4. तं थं दं धं नं अनङ्गमदनातुरा
वायव्या 7. शं पं सं हं अनङ्गाङ्कुशा
पश्चिमा 3 टं ठं डं ढं णं अनङ्गमदना
नैर्ऋत्या 6. यं रं लं वं अनङ्गवेगिनी

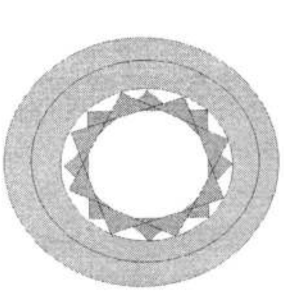

चित्र सं. 2 द्वितीय स्तर

दक्षिणा 2. चं छं जं झं ञं अनङ्गमेखला
आग्नेयी 5 पं फं वं भं मं अनङ्गरेखा

इसके भीतर भी एक वृत्त होता है तथा वृत्त के भीतर चौदह कोणो का एक मण्डल होता है। इस चतुर्थ आवरण को सर्वसौभाग्यदायक चक्र कहा गया है। (चित्र सं. ४) इसके चौदह त्रिभुजों पर पूर्व से प्रारम्भ कर निम्नलिखित रूप में देवताओं का निवास माना गया है–

1. कं सर्व्वसंक्षोभिणी, 2. खं सर्व्वविद्राविणी, 3. गं सर्व्वाकर्षिणी, 4. घं सर्व्वाह्लादिनी, 5 ङं सर्व्वसम्मोहिनी, 6. चं सर्व्वस्तम्भिनी, 7. छं सर्व्वजृम्भिणी, 8. जं सर्व्ववशङ्करी, 9. झं सर्व्वरञ्जिनी, 10. ञं सर्व्वोन्मादिनी, 11. टं सर्व्वार्थसाधिनी, 12. ठं सर्व्वसम्पत्तिपूरणी, 13. डं सर्व्वमन्त्रमयी, 14. ढं सर्व्वद्वन्द्वक्षयङ्करी।

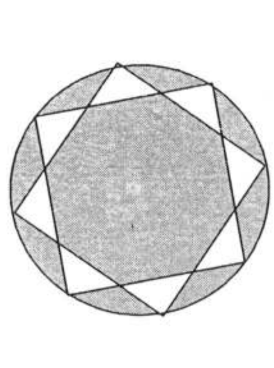

चित्र सं. 3 तृतीय स्तर

इस चतुर्थ आवरण के भीतर दश त्रिभुजों का पंचम आवरण होता है, जिसे सर्वार्थसाधक चक्र कहा जाता है। इस पंचम आवरण का निर्माण अत्यन्त जटिल है। (चित्र सं. 5) इसमें छह समवाहु त्रिभुज होते हैं, जिनमें तीन ऊर्ध्वमुख तथा तीन अधोमुख रहते हैं। इसके दश त्रिभुजों पर देवताओं का निवास इस प्रकार होता है –

चित्र सं. 4 चतुर्थ स्तर

1. णं सर्व्वसिद्धिप्रदा, 2. तं सर्व्वसम्पत्प्रदा, 3. थं सर्व्वप्रियङ्करी, 4. दं सर्व्वमङ्गलकारिणी, 5. धं सर्व्वकामप्रदा, 6. नं सर्व्वदुःखविमोचिनी, 7. पं सर्व्वमृत्युप्रशमनी, 8. फं सर्व्वविघ्ननिवारिणी, 9. वं सर्व्वाङ्गसुन्दरी, 10. भं सर्व्वसौभाग्यदायिनी।

पंचम आवरण के भीतर भी दश त्रिभुजों का सर्वरक्षाकर नामक षष्ठ चक्र होता है। यह पंचम आवरण से छोटा होता है, किन्तु केन्द्रविन्दु सभी आवरणों का एक ही रहेगा।(चित्र सं. 6) इस चक्र में सभी १० त्रिभुजों पर देवताओं का निवास इस प्रकार माना गया है–

1. मं सर्व्वज्ञा, 2 यं सर्व्वशक्ता, 3 रं सर्व्वधर्म्मप्रदा, 4 लं सर्व्वज्ञानमयी, 5 वं सर्व्वव्याधिविनाशिनी, शं सर्व्वाधारस्वरूपिणी, 7 पं सर्व्वपापहरा, 8 सं सर्व्वानन्दमयी, 9 हं सर्व्वरक्षास्वरूपिणी 10 लं क्षं सर्व्वेप्सितफलप्रदा।

चित्र सं. 5 पंचम स्तर

इस षष्ठ आवरण के भीतर आठ त्रिभुजों का सप्तम आवरण होता है, जिसे सर्वरोगहर चक्र माना गया है। (चित्र सं. 7) इसमें आठों त्रिभुजों पर पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर आठ वाग्देवताओं का स्थान इस प्रकार है –

1. अं अः 16 वशिनीवाग्देवता, 2. कः 5 कामेश्वरी वाग्देवता, 3. च 5 मोहिनी वाग्देवता, 4. ट 5 विमला वाग्देवता, 5.त 5 अरुणा वाग्देवता, 6. प 5 जयिनी वाग्देवता, 7. यः 5 सर्व्वेश्वरी वाग्देवता, 8. श 5 कीलिनी वाग्देवता।

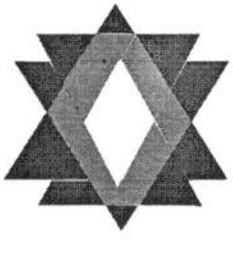

चित्र सं. 6 षष्ठ स्तर

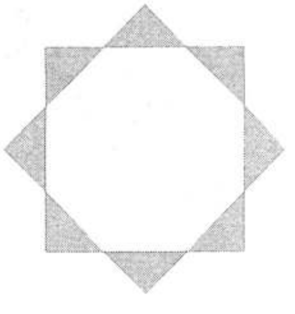

चित्र सं. 7 सप्तम स्तर

सप्तम आवरण के भीतर एक चतुष्कोण होता है। इसे सर्वसिद्धिकर चक्र नामक आठवाँ आवरण माना गया है। (चित्र सं.8) मुण्डेश्वरी मन्दिर का जो अमलक प्राप्त है, वह इसी स्तर पर लगना चाहिए। इस के चारों कोणों पर निम्नलिखित चार देवों का निवास पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर इस प्रकार होता है–

मनोरूपधनुश्शक्तिः, पाशशक्तिः, पञ्चतन्मात्रवाणशक्तिः, क्रोधस्वरूपाङ्कुशशक्तिः।

इस अष्टम आवरण के भीतर एक त्रिभुज होता है तथा त्रिभुज के बीच विन्दु रहता है। विन्दु सहित इस आवरण को सर्वानन्दमय विन्दु रूप आवरण कहा गया है। (चित्र सं. 9) त्रिभुज की तीनों रेखाओं पर तीन देवता इस प्रकार रहते हैं – श्रीं महात्रिपुरसुन्दरी, ऐं कामेश्वरी ब्रह्मा, क्लीं महावलेश्वरी विष्णुः। तथा त्रिभुज के मध्यविन्दु पर क्षौं भगमालिनी रुद्रः का वास होता है।

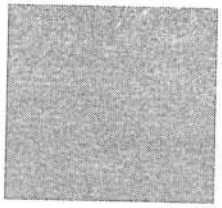

चित्र सं. 8 अष्टम स्तर

इस प्रकार मुण्डेश्वरी के मण्डलेश्वर महादेव के मन्दिर का शिखर इस सिद्धान्त के आधार पर बनाया जा सकता है, जो आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मकता, शिल्प, ज्यामिति-विज्ञान तथा प्राचीनता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा।

आदि शंकराचार्य की प्रख्यात कृति 'सौन्दर्य-लहरी' श्री विद्या का प्रधान ग्रन्थ है, जिसमें 100 श्लोकों में इसी श्रीयन्त्र का वर्णन है। इसमें वर्णित सिद्धान्त के आधार पर मन्दिर के शिखर बन जाने पर इसका स्वरूप यहाँ चित्र में प्रदर्शित है।

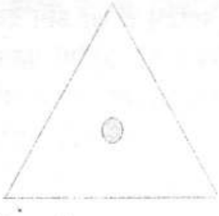

चित्र सं. 9 नवम स्तर

मुण्डेश्वरी परिसर एवं मूर्तियाँ

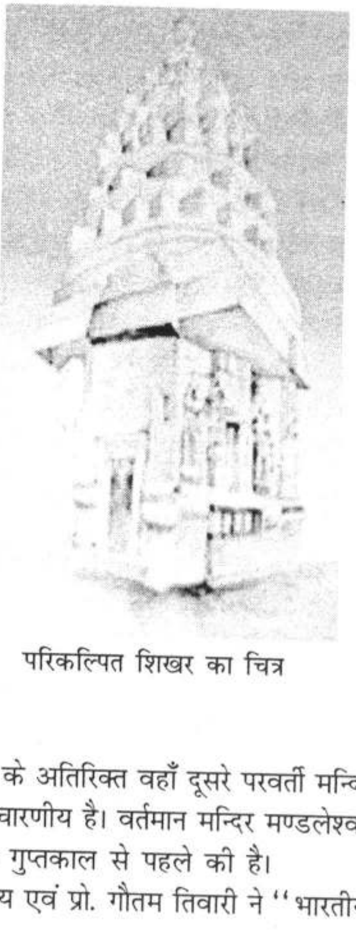

परिकल्पित शिखर का चित्र

मन्दिर की जो सामग्री चारो ओर बिखरी हुई है उनमें पत्थर के कम से कम तीन प्रकार हैं- लाल पत्थर, बालुकाश्म तथा काला पत्थर। इनमें से लाल पत्थर की मूत्तियाँ शिल्प एवं केश विन्यास के आधार पर गुप्तकाल से प्राचीन प्रतीत होता है। वर्तमान में कुछ मूर्तियाँ चुनकर मन्दिर के उत्तरी भाग में रखी गयी हैं, जो इस कोटि की हैं। इसी पत्थर से बना हुआ चतुर्मुख शिवलिंग है। इसी प्रकार की एक स्थानक मूर्ति उद्वाहु विष्णु की भी है, जो खण्डित है। मुण्डेश्वरी संग्रहालय में भी लाल पत्थर की कई कलाकृतियाँ संगृहीत है जो मथुरा शैली में है। मुण्डेश्वरी की वर्तमान मूर्ति का केश विन्यास तथा चेहरा की बनावट भी इस विवेचन में महत्त्वपूर्ण है। केश विन्यास गान्धार शैली की बुद्धमूर्ति के समान है तथा चेहरा पर मानवीय आकृति की स्वाभाविकता है। ये दोनों मथुरा शैली में प्रचलित थी जबकि गुप्तकाल की कला में चेहरा के अंकन का एक शास्त्रीय रूप झलकने लगा है। इस प्रकार मुण्डेश्वरी की प्रतिमा गुप्तकाल से पहले की या गुप्तकाल के प्रारम्भ की है।

वर्तमान मन्दिर में कई मूर्तियाँ परवर्ती गुप्तकाल की लगायी गयी हैं। जैसे उत्तरी द्वार पर सहारा देने के लिए एक ऐसा स्तम्भ लगाया गया है जिसपर जूता पहने सूर्य की मूर्ति है। कई व्याल-मुख एवं दैत्यमुख अंकन की धरन (Lintel) लगायी गयी है जो अपने स्थान की प्रतीत नहीं होती है। मन्दिर में ऊपर का अधिकांश भाग उपलब्ध सामग्री से किसी तरह मन्दिर खड़ा कर छत बनाये जाने की परिस्थिति में निर्मित है। इनके लिए टी. ब्लॉच को जितना भी धन्यवाद दिया जाये, कम ही होगा। किन्तु भित्ति-कल्पना (wall planning) तथा मध्य में स्थित चार स्तम्भ के अतिरिक्त वहाँ दूसरे परवर्ती मन्दिर की कलाकृतियाँ भी लगायी गयी हैं जिनके आधार पर पूरे मन्दिर को गुप्तकाल का घोषित करना विचारणीय है। वर्तमान मन्दिर मण्डलेश्वर शिव का है जो मन्दिर के केन्द्र में अपनी स्वाभाविक स्थिति में है अत: इस मन्दिर की संकल्पना गुप्तकाल से पहले की है।

गुप्तकालीन स्थापत्य कला की विशेषताओं का विवेचन करते हुए डा. उदयनारायण उपाध्याय एवं प्रो. गौतम तिवारी ने ''भारतीय स्थापत्य एवं कला'' पुस्तक में लिखा है:-

1. ''सभी मन्दिरों की स्थापना ऊँचे चबूतरों पर की जाती थी।
2. मन्दिरों के ऊपर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में सोपान का प्रावधान होता था।
3. प्रारंभिक मन्दिरों की छतें (Roof) चपटी होती थी परन्तु बाद के गुप्तकालीन मन्दिरों में 'शिखर' का प्रादुर्भाव सामान्यत: दृष्टिगोचर होता है।
4. सभी मन्दिरों की बाहरी दीवारें सादी होती थी।
5. गर्भ-गृह में समान्यत: एक ही द्वार रहता था जिसमें मूर्ति की स्थापना होती थी।
6. इन मन्दिरों के **'द्वांर-स्तम्भ'** अलंकृत थे तथा द्वारपाल के स्थान पर गंगा-यमुना की मूर्तियों को स्थान दिया गया है।
7. गर्भगृह के चारों तरफ **'प्रदक्षिणापथ'** बनता था जो छत से ढका रहता था- दर्शनार्थी सीढ़ियों द्वारा सर्वप्रथम इसी स्थान पर आते थे तदनंतर गर्भगृह में प्रवेश करते थे।
8. गुप्तकालीन मन्दिरों के स्तम्भों के सिरे पर एक 'वर्गाकार प्रस्तर' रहता था जिन पर सिहों की चार मूर्तियाँ रहती थीं।''

वर्तमान मन्दिर में चबूतरा जैसी कोई बनावट नहीं है तथा गर्भगृह में चारों ओर द्वार बने हुए हैं। मन्दिर की बाहरी दीवारों पर चार ओर लघु मण्डप हैं जो अंग देवताओं को स्थापित करने के लिए बने हैं। इन देवताओं की मूर्तियाँ परिसर में उपलब्ध भी हैं तथा अग्नि एवं कार्तिकेय की मूर्तियाँ पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

लाल चित्तीदार पत्थर की जो मूर्तियाँ वहाँ है उनका धड़ भाग नग्न है तथा अधोभाग पर चुन्नट तथा पृष्ठालम्बन विद्यमान है जिसके कारण उन्हें गुप्तकालीन शिल्प से सम्बद्ध इसलिए नहीं माना जा सकता है क्योंकि ये मूर्तियाँ दीवालों पर बनायी गयी थी (मथुरा शैली में भी दीवालों पर उकेरी गयी स्तम्भ-पुत्तलिकाएँ पृष्ठालम्बन से युक्त है। मन्दिर में मूलनायक के अतिरिक्त मूर्तियाँ पृष्ठालंबन से युक्त हैं।

मथुरा शिल्प की प्रतिमायें अपनी विशालता के लिए विख्यात है। यह विशेषता यहाँ उद्‌बाहु विष्णु की खण्डित प्रतिमा में देखी जा सकती है।

मुण्डेश्वरी संग्रहालय में एक खण्डित मूर्ति का आधार सुरक्षित है। यह मूर्ति इसी परिसर से मिली था। इस पर महिष का एक मुण्ड (गरदन से ऊपर का भाग) है जिसपर देवी के दो पैर हैं। दायीं ओर एक पुरुष वीरासन की मुद्रा में है तथा बायीं ओर एक नारी वज्रासन में है। पूरी मूर्ति पृष्ठालम्बन रहित है। सम्भव है महिष मुण्ड पर आरूढ़ देवी मुण्डेश्वरी की एक यह भी मूर्ति रही हो।

वर्तमान मन्दिर परिसर के पश्चिम उत्तर कोण में है। पूर्व की ओर से सीढ़ी है जिससे ऊपरी तल पर पहुँचने पर मन्दिर तक जाने के लिए परिपथ बना हुआ है। इस पथ से मन्दिर के निकट पहुँचने पर उत्तर एवं दक्षिण में दो खण्डित स्तम्भ हैं, जिनके निचले भाग में तपस्यारत पार्वती, सूर्य, गणेश एवं चतुर्भुज विष्णु की मूर्त्तियाँ हैं। सम्भवत: यह मन्दिर का मुख्य द्वार रहा होगा जिसके अन्दर परिक्रमा पथ एवं वर्तमान गर्भगृह था। परिसर के पूर्व-दक्षिण कोण में भी एक शिवलिंग है। यह काफी क्षतिग्रस्त हो चुका है, फिर भी यह चतुर्मुख शिवलिंग प्रतीत होता है।

वर्तमान मन्दिर के दक्षिण में चार स्तम्भों का आधार (65x75 से.मी.) जिसके बीच 1 मी.x65 से.मी. का एक आधार भी स्पष्ट है जो वर्तमान मुण्डेश्वरी की मूर्त्ति के आधार से थोड़ा बड़ा है। अत: यह अनुमान कठिन नहीं है कि मुण्डेश्वरी की वर्तमान मूर्ति का मुख्य स्थान यहाँ रहा होगा तथा वर्तमान गर्भगृह क अनुरूप यहाँ भी मन्दिर रहा होगा। बिहार के पुराविद् स्व. प्रकाश चरण प्रसाद ने दिनांक-20.11.2007 को बिहार राज्य धार्मिक न्यास पर्षद् को लिखे अपने एक प्रतिवेदन में इसकी पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है:-

''मुण्डेश्वरी भवानी मन्दिर परिसर में ध्वंसावशेषों एवं उपलब्ध चिह्नों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ चारों ओर कई मन्दिरों एवं मण्डपों का अस्तित्व रहा होगा। यहाँ के ध्वंसावशेषों में विभिन्न प्रकार के पत्थर उपलब्ध होते है, साथ ही इतनी मात्रा में अवशेषों का होना भी यह साबित करता है कि वर्तमान मन्दिर के अतिरिक्त अन्य मन्दिर भी उस परिसर में थे। इनमें से एक मन्दिर के गर्भगृह के चिह्न वर्तमान मन्दिर के दक्षिण में मिला है। यहाँ चारों ओर स्तम्भ की आधार शिला है, जिनपर लोहे के क्लैंप भी यथावत् सुरक्षित हैं। ये क्लैंप पत्थरों को जोड़ने के लिए व्यवहृत होते थे। इन चार स्तम्भों के बीच एक शिला का भी चिह्न है, जो निश्चित रूप से मूर्ति की वेदी है। अर्थात् चार स्तम्भों एवं दीवारों से घिरे हुए एक गर्भगृह का अवशेष मुझे यहाँ पर मिला है। इस वेदी के परिमाप के साथ मुण्डेश्वरी देवी की वर्तमान वेदी के परिमाप की तुलना करने पर मैंने पाया है कि ये दोनों समरूप हैं। अत: यह कहना सार्थक होगा कि उक्त स्थान पर मुण्डेश्वरी का मूल गर्भगृह था जो कालान्तर में ध्वस्त हो गया। इस गर्भगृह के स्तम्भ भी ध्वंसावशेषों में मिले हैं।

इस प्रकार, पुरातात्त्विक दृष्टि से अन्वेषण के उपरान्त मैंने पाया है कि वर्तमान गर्भगृह के दक्षिण में जो मन्दिर के चिह्न हैं, वहाँ देवी मुण्डेश्वरी का गर्भगृह रहा होगा।'' (बिहार राज्य धार्मिक न्यास पर्षद् के कार्यालय से साभार)

सम्पूर्ण मन्दिर परिसर का विकास कम से कम तीन चरणों में हुआ है। परिसर में खण्डित मूर्तियाँ भी दो प्रकार की हैं। वहाँ एक ओर लाल पत्थर की मूर्तियाँ तो दूसरी ओर बालुकाश्म (Sandstone) की मूर्तियाँ हैं। अन्वेषण के दौरान हमें चतुर्बाहु विष्णु की दो मूर्तियाँ मिली है एक लाल पत्थर की है तथा उद्‌बाहु मुद्रा में है। उसमें आयुध पुरुष का अंकन नहीं हुआ है, जबकि बालुकाश्म से निर्मित विष्णु की प्रतिमा प्रलम्बबाहु मुद्रा में है तथा चक्रपुरुष और गदानारी का स्पष्ट अंकन हुआ है। लाल पत्थर वाली मूर्ति मथुरा शैली की है जबकि दूसरी गुप्तशैली में है। गुप्तशैली में भी बाद में चतुर्भुज विष्णु की दो बाहें केहुनी के पास से ही निकल जाती है, किन्तु इस मूर्ति में बाहें केहुनी के पास से न निकल कर कंधे से निकली हुई है जो प्राचीन प्रवृत्ति है। लाल पत्थर वाली मूर्तियाँ शैली की दृष्टि से बिल्कुल अलग हैं। ये मथुरा शैली की मूतियाँ कुषाणकालीन हैं।

मन्दिर परिसर में दक्षिण पूर्व दिशा में चतुर्मुख शिवलिंग है, जिसके चारों मुख खण्डित हैं किन्तु आकृति स्पष्ट है इन्हें शिलालेख में उद्धृत विनीतेश्वर माना जा सकता है। 'विनीतेश्वर' को शिव का ही स्वरूप मानना उचित होगा। विष्णु मानने पर 'विनतेश्वर' (विनता-गरुड़ की माता के उपास्य देव) होना चाहिए। साथ ही मुण्डेश्वरी की भी दो प्रतिमाएँ है एक मूर्ति वर्तमान मन्दिर में है और दूसरी मूर्ति इन्डियन म्यूजियम कलकत्ता में सुरक्षित है। फ्रांसिस बुकानन ने अपने सर्वेक्षण के दौरान जिस चित्रकार को वहाँ भेजा था उस चित्रकार ने वर्तमान मन्दिर में स्थित मुण्डेश्वरी की प्रतिमा का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है, जो अपने वर्तमान स्थान पर है। बुकानन के समय मन्दिर के बाहर जंगल था। चारों ओर मलबा इतना बिखरा हुआ था कि वह चित्रकार मन्दिर का रेखाचित्र बना नहीं सका था, किन्तु भीतर मूर्ति सुरक्षित थी, शिवलिंग तथा उसके ऊपर का मण्डप सुरक्षित था। बुकानन के समय की इस स्थिति से स्पष्ट है कि वर्तमान मन्दिर के शिखर टूटने से पहले ही मुण्डेश्वरी की वर्तमान मूर्ति वहाँ लाकर रखी गयी।

भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में जो मूर्ति सुरक्षित है उसके आसन पर तीन पंक्तियों का एक लेख है जिसमें 'मुण्डेश्वरी' नाम स्पष्ट है। इस लेख की लिपि नागरी है ज़िस आधार इसका काल 10वीं शती माना गया है। अत: यह स्पष्ट है कि 10वीं शती में भी यहाँ तीसरे चरण में एक मन्दिर का निर्माण हुआ।

मन्दिर के मूलनायक के रूप में चतुर्मुख शिवलिंग

मन्दिर में मूलनायक के रूप में चतुर्मुख शिवलिंग हैं। भारत के विभिन्न भागों से ईसा पूर्व शती से ही चतुर्मुख लिंग मिलते हैं। राज्य संग्रहालय, लखनऊ के तत्कालीन निदेशक डा० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ने भीटा के पंचास्य लिंग में बने चार मुख, कौशाम्बी का चतुर्मुख शिवलिंग (इलाहाबाद संग्रहालय, स० 336), राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली का चतुर्मुख लिंग, मथुरा का चतुर्मुख लिंग, कौशाम्बी का गुप्तकालीन चतुर्मुख लिंग एवं मध्य भारत से प्राप्त गुप्तकालीन चतुर्मुख लिंग (विरला अकादमी संग्रहालय, कलकत्ता सी, 97) के आधार चतुर्मुख शिवलिंग के विकास पर विमर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने माना है कि कुषाणकाल के बाद मुखलिंग पर शिव का तीसरा नेत्र आवश्यक मान लिया गया है। पहले यह त्रिनेत्र आड़ा बनता था बाद में खड़ा हो गया है। त्रिनेत्र के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक ''प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान'' में लिखा है:-

''चौथी बात त्रिनेत्र से सम्बद्ध है। प्रथम तीन लिंगों के किसी मुख पर तीसरी आँख दिखायी नहीं पड़ती, कुषाण कालीन चतुर्मख लिंगों में उसका होना अनिवार्य नहीं है किन्तु गुप्तकाल तक पहुँचते-पहुँचते वह स्त्री मुख के अतिरिक्त तीनों मुखों पर दृष्टिगोचर होती है। विरला अकादमी वाले लिंग पर दिखाई पड़नेवाली आड़ी और खड़ी तीसरी आँख भी इसी संक्रान्ति को सूचित करती है।'' (पृ० 56)

मुण्डेश्वरी शिवलिंग में एक मुख के मस्तक पर रुद्राक्ष माला है। मुखों की आकृति भिन्न है। स्त्रीमुख नहीं है। त्रिनेत्र का सर्वथा अभाव है। 'बालेन्दुशेखर' का स्वरूप किसी भी मुख पर नहीं है। गुप्तकाल तक आते-आते चतुर्मुख शिवलिंग का शास्त्रीय स्वरूप स्थिर हो चुका है जिसका उल्लेख विष्णुधर्मोत्तर पुराण में किया गया है:-

सद्योजातं वामदेवमघोरं च महाभुज। तथा तं पुरुषं ज्ञेयमीशानं पञ्चमं मुखम्॥१॥
सद्योजातं मही प्रोक्ता वामदेवं तथा जलम्। तेजस्त्वघोरं विद्यात्तं वायुस्तत्पुरुषं मतम्॥२॥
ईशाने च तथा काशमूर्द्धस्थं पञ्चमं मुखम्। विभागेनाथ वक्ष्यामि शम्भोर्वदनपञ्चकम्॥३॥
महादेव मुखं ज्ञेयं पूर्वं शम्भोर्महात्मनः। नेत्राणि त्रीणि तस्याङ्ग सोमसूर्य हुताशनाः॥४॥
दक्षिणं तु मुखं रौद्रं भैरवं तत्प्रकीर्तितम्। पश्चिमं यन्मुखं तस्य नन्दिवक्त्रं तदुच्यते॥५॥
उमावक्त्रं च विज्ञेयं तस्य देवस्य चोत्तरे। सदाशिवाख्यं विज्ञेयं पावनं तस्य पञ्चमम्॥६॥
त्रिलोचनानि सर्वाणि वामदेवं द्विलोचनम्। (खण्ड : 3/अध्याय 50)

गुप्तकाल के चतुर्मुख लिंगों में पूर्व दिशा में सौम्य, पश्चिम में सौम्य उत्तर में स्त्री एवं दक्षिण में अघोर मुख शास्त्रीय दृष्टि से रूढ़ हो चली है। डा० जोशी लिखते हैं:-

''ऊपर वाली तालिका से एक बात स्पष्ट होती है कि कुषाण काल की समाप्ति तक मुख स्थानों में एकरूपता नहीं थी, गुप्तकाल तक पहुँचते पहुँचते वह स्थिर हो गयी है और विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने शास्त्रीय रूप से उसका उल्लेख किया। इस ग्रन्थ के अनुसार दक्षिण में अघोर और उत्तर में स्त्री मुख की स्थिति अर्थात् इन दोनों का ठीक एक दूसरे के पीछे रहना अनिवार्य है। प्रारम्भ के कुछ लिंगों में इस विधान को अनिवार्यत: स्वीकार नहीं किया गया है।'' (पृष्ठ 56)

साथ ही गुप्तकाल में चतुर्मुख लिंग की ऊँचाई घटती गयी है और मोटाई बढ़ गयी है। इस प्रकार मुण्डेश्वरी मन्दिर के मूल नायक चतुर्मुख महादेव कुषाण काल के प्रतीत होते हैं।

<u>मुण्डेश्वरी (वर्तमान मूर्त्ति)</u>-

देवी की प्रतिमाओं में इसका विशिष्ट स्वरूप है। काले पत्थर का यह एक रिलीफ है जिसके मुख की आकृति तथा केश विन्यास विशेष रूप से विचारणीय है। केश विन्यास गान्धार शैली की है मुख की लंबाई अधिक तथा चौड़ाई कम है। महिष पर आरूढ इस देवी के स्वरूप का साहित्यिक उल्लेख दुर्गा-कवचम् में हुआ है, जहाँ ''वाराही महिषासना'' कहा गया है। महिष वाहिनी की अन्य मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें से एक ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। इन्हें भी वाराही कहा गया है। डा. एन. पी. जोशी ने इसे छठी से ८वीं शती के बीच का माना है। इस चतुर्भुजी प्रतिमा के मुख में मछली तथा गोद में शिशु है। यह मूर्ति एक ऐसी तान्त्रिक परम्परा को प्रकट करती है जिसमें एक देवी का सम्बन्ध महिषासन, मत्स्य एवं शिशु से है। इस परम्परा का विकास मुण्डेश्वरी की दूसरी मूर्ति में उपलब्ध है।

बुकानन द्वारा प्रेषित चित्रकार ने मन्दिर के गर्भगृह में काले रंग के एक पत्थर पर दो पंक्तियों के एक लेख का चित्र पस्तुत किया जिसे एम. मार्टिन ने प्रकाशित किया है। इस लेख की लिपि ब्राह्मी नहीं है। इन दोनों पक्तियों का अध्ययन आवश्यक है। सम्भवत: वर्तमान मुण्डेश्वरी की प्रतिमा से सम्बद्ध यह अभिलेख हो।

इस शिलालेख में अक्षरों की आकृति इन अभिलेखों की आकृति से मिलती है जिन्हें शंखलिपि कहा गया है। यहाँ शंखलिपि के अनेक छोटे छोटे अभिलेख हैं जो विशेष रूप से चट्टानों पर खोदे गये हैं। इस लिपि की सबसे बड़ी विशेषता है कि एक आकृति का प्रयोग बार-बार किया गया है। अभी तक यह लिपि पढ़ी नहीं जा सकी है। भारत में कई स्थानों से इस लिपि में छोटे-छोटे अभिलेख मिले हैं। साँची स्तूप के निकट से भी ऐसा एक फलक मिला है। भारत में यह लिपि किस काल में रही है इस पर अभी बहुत शोध बाकी हैं किन्तु इतना निश्चित है कि अलौकिक साधना के लिए इसका प्रयोग होता था बीजाक्षर लिखे जाते थे। जिस प्रकार तान्त्रिक साधना में बीज मन्त्र के लिए कूटाक्षर का प्रयोग जैसे-शक्ति के लिए 'ई', इच्छा एवं कामना के लिए 'उ' अग्नि के लिए 'र' आदि एकाक्षर का प्रयोग हुआ है उसी प्रकार शंखलिपि भी एक प्रकार से कूट लिपि है, जिसपर शोध आवश्यक है जिसके लिए मुण्डेश्वरी-परिसर महत्त्वपूर्ण है।

मुण्डेश्वरी (कलकत्ता संग्रहालय)-

मुण्डेश्वरी की एक प्रतिमा कलकत्ता संग्रहालय में है। पर्यंक मुद्रा में स्थित इस देवी की बायीं ओर गोद में एक शिशु है देवी के तीन हाथों में चामर, फल एवं अंकुश हैं तथा एक हाथ शिशु की वाम स्कन्ध पर है। शिशु का एक हाथ देवी के वाम स्तन पर है। देवी के मस्तक पर ऊर्ध्वाधर त्रिनेत्र है तथा आसन के रूप में मीन है। आसन के नीचे की शिला पूरी मूर्ति की ऊँचाई का चौथाई है जिसपर दाहिनी ओर शव का मुख एवं वायीं ओर पैर दिखाई पड़ता है। बीच वाले भाग पर तीन पंक्तियों का एक मूर्तिलेख है।

१. ॐ श्रीनत्रयीप्रदेसेविचुम्बन्नउग्रे
२. धनीबटुकेनमुण्डेस्व(श्व)रीहे
३. मफले फट् हू प्रतिदय।

इस लेख में 'मुण्डेश्वरी' का नाम स्पष्ट है। मेरे पास इस शिलालेख की जो छाया है वह बहुत स्पष्ट नहीं है अत: मैं स्वयं इस पाठ से सन्तुष्ट नहीं हूँ, किन्तु तीसरी पंक्ति में 'बटुकेन मुण्डेश्वरी' स्पष्ट है। यह मुण्डेश्वरी के लिए कोई मन्त्र प्रतीत होता है।

प्रभा-मण्डल के कारण इसका देवत्व सुनिश्चित है और त्रिनेत्र के कारण शिव से सम्बद्धता भी। शवासन के कारण घोर रूपा, शिशु के कारण मातृरूपा तथा मीनासन के कारण तन्त्र-साधना की देवी मानना उचित होगा।

मुण्डेश्वरी (मुण्डेश्वरी-संग्रहालय)-

मुण्डेश्वरी संग्रहालय में खण्डित देवी प्रतिमा का अवशेष सुरक्षित है। इस पीठिका पर एक महिषमुण्ड है जिसपर देवी के दो चरण हैं। बायीं ओर एक नारी वज्रासन (दोनों घुटना टेककर पैर की एड़ी पर नितम्ब टिकाकर बैठना) की मुद्रा में तथा दायीं ओर पुरुष वीरासन (एक पैर तथा एक घुटना जमीन पर टिकाकर बैठना) की मुद्रा में बैठा हुआ है। मूर्ति में देवी के चरण से ऊपर तथा नर-नारी की कमर से ऊपर का भाग खण्डित है। मूर्ति में पृष्ठालंबन नहीं है।

यह खण्डित मूर्ति मुण्डेश्वरी पहाड़ी पर मिली थी। ऊपर का खण्डित भाग अप्राप्त है। लाल रंग के पत्थर पर पॉलिस की चमक है। देवी के पैर की ऊँगलियाँ लम्बी हैं। पैर की लम्बाई के अनुपात में इस मूर्ति की ऊँचाई 5 से 6 फीट के बीच अनुमानित है। पृष्ठालंबन का अभाव, देवी के पैरों की अंगुलियों की लंबाई तथा लाल बालुकाश्म पर पॉलिस की चमक के कारण यह मौर्य-कालीन प्रतीत हो रहा है। इसपर विशेष अध्ययन आवश्यक है।

खण्डित प्रतिमा में मुण्ड पर आरूढ़ देवी को 'मुण्डेश्वरी' कहा जा सकता है। मेरा अनुमान है कि मन्दिर परिसर की सबसे प्राचीन यह प्रतिमा है जिसके नाम पर मुण्डेश्वरी मन्दिर की ख्याति हुई। दूसरे चरण में गुप्तकाल के बाद वर्तमान प्रतिमा की स्थापना हुई तथा तीसरे चरण में उसी परिसर में पहाड़ी में गुफा बनाकर या छोटा मन्दिर बनाकर भारतीय संग्रहालय में संरक्षित प्रतिमा की स्थापना की गई। किन्तु वर्तमान शिव मन्दिर अपनी जगह पर पृथक् रूप से रहा।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि ब्राह्मण-धर्म में मूर्तिपूजा मौर्य काल से आरम्भ हुई है। पाणिनीय सूत्र जीविकार्थे चापण्ये (513199) पर पतंजलि ने लिखा है:- ''अपण्ये' इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति- शिव:, स्कन्द: विशाख इति? किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्चा: प्रकल्पिता: (पाठान्तर-कल्पिता:) भवेत्तासु न स्यात् यास्तु एता: सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति [जीविकार्थे]।। तात्पर्य है कि इससे पूर्वसूत्र

'इवे प्रतिकृतौ'(513196) से प्रतिकृति अर्थात् मूर्ति से 'कन्' प्रत्यय होता है। जैसे भगवान् शिव की मूर्ति यदि बेचने के लिए बाजार में रखी गयी हो तो उसे 'शिवक' कहेंगे। किन्तु यदि मूर्ति जीविका के लिए तो हो, लेकिन विक्रय के लिए न हो तो उस 'कन्' प्रत्यय का लोप हो जाता है। इसका उदाहरण दिया गया है कि मौर्यों ने जीविका के लिए, धन के लिए मूर्ति की अर्चना आरम्भ की। इस शुंगकालीन साहित्यिक सामग्री से यह सूचना मिलती है कि मौर्यकाल में मूर्ति की बिक्री भी की जाती थी और मूर्तियों पर चढ़ावा के रूप में लोग 'हिरण्य' भी चढ़ाते थे, जिससे लोगों की जीविका चलती थी। यदि प्रतिकृति की बिक्री के अतिरिक्त जीविका के लिए मूर्ति की अन्य कोई उपयोगिता नहीं होती तो पाणिनि का यह सूत्र ही व्यर्थ होता। अत: पाणिनि के काल में भी मूर्ति पूजा और मूर्ति बिक्री होती थी। जहाँ तक शक्तिपूजन की बात है तो पाणिनि ने ''इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृड' इत्यादि सूत्र में स्त्रीलिंग में इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी एवं मृडानी शब्द की सिद्धि दिखाई है। अत: मौर्यकाल में भी देवी की मूर्ति बनाकर पूजा होती थी।

डेनियल की पेंटिंग

थॉमस डेनियल एवं विलियम डेनियल नामक डेनियल बन्धु ने 1790 ई० में जो पेंटिंग बनायी थी उसके आधार पर मुण्डेश्वरी मन्दिर परिसर पर प्रकाश पड़ता है। डेनियल का पेंटिंग वास्तविक कला (Realistic Art) की शैली में है, जिसमें उन्होंने मन्दिर के पीछे ऊँचे चट्टानों की श्रृंखला दिखायी है, जिसपर एक पेड़ है तथा उसी ओर से एक व्यक्ति ऊपर आता हुआ दिखाई पड़ रहा है। वर्तमान में पहाड़ी की उस चोटी के स्थान पर समतल है तथा वर्तमान पहाड़ी के दक्षिण में जिधर से सीढ़ी बनायी गयी है उधर चट्टानों के ऐसे अनेक टुकड़े बिखरे हैं, जिन पर शंखलिपि में तीर्थयात्रियों तथा आसन लगाकर साधना करनेवाले साधकों के द्वारा खोदे गये अभिलेख तथा यंत्र आदि हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि डेनियल की पेंटिंग में जो ऊँची चट्टानें हैं वे सफाई करने के दौरान ऊपर से लुढ़का दी गयी हैं जो टूट कर एक ही दिशा में आज भी बिखरी हुई हैं। इस प्रकार डेनियल की पेंटिंग में पश्चिम की ओर से अंकन किया गया है और मन्दिर का पश्चिमी द्वार दिखाया गया है तथा जितनी भी अभिलिखित चट्टान हैं वे डेनियल के समय तक ऊपरी तल पर ही थी और उन पर आसन लगाकर साधक साधना करते थे। पहाड़ी की दूसरी दिशा में ऐसे अवशेषों का अभाव इस अनुमान को पुष्ट करता है। इस पेंटिंग से एक और बात सामने आती है कि पूर्व दिशा की ओर से पहाड़ी पर चढ़ने का रास्ता था जिससे लोग उस मन्दिर तक आते थे। साथ ही, मन्दिर लगभग 2 फीट धँसा हुआ था किन्तु मन्दिर का गर्भगृह सुरक्षित था। पेंटिंग में एक व्यक्ति को मन्दिर के अन्दर खड़ा दिखाया गया है, जिसकी जंघा के ऊपर का भाग दिखाई पड़ रहा है।

यही कारण है कि बुकानन ने जब 1812-13 ई० में कलाकार को भेजा था तब उसने गर्भगृह के अन्दर जाकर भित्ति योजना (Plan) का सही रेखाचित्र प्रस्तुत किया। उस समय शिवलिंग अपने स्थान पर सुरक्षित था तथा मुण्डेश्वरी की वर्तमान प्रतिमा भी उसी जगह सुरक्षित थी। उसने दो पंक्तियों के एक शिलालेख का जो रेखाचित्र प्रस्तुत किया है, वह शंखलिपि में है जो अब अनुपलब्ध है।

डेनियल का वह चित्र मन्दिर परिसर की प्राचीन स्थिति पर प्रकाश डालता है। प्राचीन काल में मन्दिर से पश्चिम ऊँची पहाड़ी की चोटी थी जिसकी तलहटी में मन्दिर परिसर का विकास हुआ। आज जितनी जगह वहाँ है उससे भी कम जगह वहाँ थी। वह चोटी साधना की जगह थी तथा नीचे मन्दिर था। प्राकृतिक कारणों से पहाड़ी की चोटी के खिसकने से मन्दिर का शिखर टूटा तथा मन्दिर धँस गया। किन्तु तीर्थयात्रियों और स्थानीय श्रद्धालुओं ने परिसर की सफाई की तथा गर्भगृह में प्रवेश करने का रास्ता बनाया गया। मन्दिर के अवशेषों को दूर कर द्वार के सामने की जगह को समतल किया गया, जो डेनियल की पेंटिंग में स्पष्ट है। किन्तु वे चट्टानों से दबे अवशेषों को निकाल न सके या मन्दिर का द्वार खुल जाने पर उन्हें निकालने की आवश्यकता ही नहीं समझी। टी. ब्लॉच के निर्देशन में जब मन्दिर की मरम्मत की गयी उस समय उन टूटे चट्टानों को पूर्व की ओर लुढ़का दिया गया तथा भीतर से अवशेष निकालकर उनका उपयोग किया गया। वे चट्टान आज भी सीढ़ियों के अगल-बगल बिखरे हुए हैं।

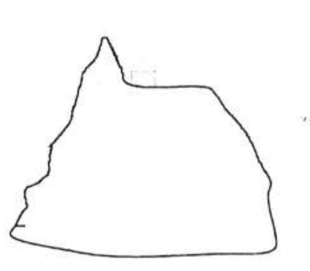

डेनियल की पेंटिंग के अनुसार पहाड़ी पर मन्दिर की स्थिति

मन्दिर की वास्तु से स्पष्ट है कि इसके मूलनायक (मुख्यदेवता) चतुर्मुख मण्डलेश्वर महादेव हैं। महादेव के चतुर्मुख होने के कारण ही इस मन्दिर में चारों ओर द्वारों की परिकल्पना की गयी है। इस शिवलिंग की बेदी चौकोर है तथा जल-प्रणाली उत्तर की दिशा में है। शिवलिंग के ऊपर एक वर्गाकार मण्डप है जो 22 फीट ऊँचे 4 स्तम्भों पर टिका हुआ है। सौभाग्यवश ये चारो स्तम्भ सुरक्षित हैं और इसकी ऊँचाई को हम प्रासाद की कटि एवं भित्ति की ऊँचाई मान सकते हैं।

चारों ओर से प्रवेश द्वार की यह शैली स्तूप निर्माण की परम्परा से प्रभावित होने की अवधारणा को नकारा नहीं जा सकता है। नागार्जुन कोण्डा के महास्तूप की भित्ति योजना इस सन्दर्भ में देखी जा सकती है।

मुण्डेश्वरी परिसर के कुछ ब्राह्मी के लेखः-

परिसर से अनेक छोटे अभिलेख मिले हैं जो गुप्तकालीन ब्राह्मी में है। अधिकांश लेख तीर्थयात्रियों द्वारा खोदे गये हैं, जिनमें 'प्रणमति' शब्द सामान्य रूप से आये हैं।

एक स्तम्भ पटना संग्रहालय में संरक्षित है जिसपर 7वीं शती की ब्राह्मी में पाँच पंक्तियों में यात्री-लेख हैं। मुण्डेश्वरी परिसर के इन क्षुद्र लेखों को हम सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं-

1. प्रणमति प्रकार
2. अन्य प्रकार

(1) 'प्रणमति' प्रकार लेखों का केवल इतना ही महत्त्व है कि यह मुण्डेश्वरी परिसर के प्रति लोगों की धार्मिक आस्था का प्रदर्शित करता है तथा लिपिकाल में इसके तीर्थ होने का संकेत करता है।

(2) अन्य प्रकार का एक लेख मुण्डेश्वरी संग्रहालय में संरक्षित एक स्तम्भ है- ''व्याचरितशील''। यह भी तीर्थयात्री लेख ही है जिसका अर्थ है- ''मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा किया''। स्पष्ट है कि गिरे हुए स्तम्भ पर यह लिखा गया है। स्तम्भ लाल पत्थर का है तथा लिपि लगभग 8वीं शती की ब्राह्मी है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस स्थान पर पूर्व में भी एक मन्दिर रहा होगा जो आठवीं शती से पूर्व गिर गया।

मन्दिर के दक्षिण एक शिलाखण्ड काटकर लगाया गया है जिस पर ''...दगोस्वामि'' लिखा है। इसमें 'प्रणमति' नहीं है।

इस प्रकार के लेखों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ लेख पटना संग्रहालय में संरक्षित है जिसके एक ओर तो प्रणमति-लेख हैं, दूसरी ओर दो पंक्तियों में लेख उत्कीर्ण है। बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका के अंक 57, जनवरी-दिसम्बर 1971 में चित्तरंजन प्रसाद सिन्हा ने इसपर विमर्श प्रस्तुत किया है और उन्होंने इसके पाठ में 'चैत्य' होने का सन्देह करते हुए भी 'चैल' पाठ माना है। मैंने भी इसे चैल ही पढ़ा है, किन्तु 'समाधि' शब्द का अर्थ उन्होंने 'Burial' चिताभूमि माना है। मेरी दृष्टि में 'समाधि' का प्राचीन अर्थ है, जहाँ अच्छी तरह ध्यान किया जाए। साधना-स्थल के अर्थ में यह शब्द बहुप्रयुक्त है। अत: यह स्तम्भ उस स्थान को संकेत करता है जहाँ 'चैल' साधनारत रहते थे। इस चैल को 'चेरो' राजवंश का संकेत मानने में कोई आपत्ति नहीं। इससे ऊपर लिखे गये शब्द 'चैत्यविधि' की भी संगति बैठ जाती है।

भैरवशिला-

सीढ़ी के रास्ते लगभग आधी चढ़ाई पर दाहिनी ओर एक विशाल चट्टान है, जिसपर आठ हाथ वाली एक पुरुष आकृति बनी है। उसके पैर के समीप एक कुत्ता है। परम्परा इसे भैरव की मूर्ति मानती है। इसपर ब्राह्मी के दो लेख हैं। पहला लेख है- 'प्रियंगुप्रणमति'। यह गुप्तकालीन ब्राह्मी है किन्तु दूसरा सम्प्रति घिसकर अस्पष्ट हो चुका है किन्तु 'त र म ति' आदि अक्षर स्पष्ट है इसकी लिपि गुप्तकाल से प्राचीन है। धार्मिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से यह शिला महत्त्वपूर्ण है।

गणेश की विशाल प्रतिमा-

वर्तमान में सीढ़ी के दाहिनी ओर गणेश की एक विशाल प्रतिमा है जिसके आसपास अलंकृत स्तम्भ के अवशेष भी हैं। वहीं वेसर शैली का एक शिवलिंग भी है। वहाँ एक विषेष प्रकार का नन्दी है, जिसके एक ओर बैल के खुर हैं तो दूसरी ओर सिंह के दो पंजे हैं। बृषभवाहन शिव एवं सिंहवाहिनी शक्ति के अर्द्धनारीश्वर रूप का प्रतीक यह नन्दी विशिष्ट प्रकार का है।

'जिहवीमाई' गुफा की रोमांचक यात्रा

21 फरवरी, रविवार, 2010 ई. के दिन लगभग 11 बजे मैंने सीढ़ियों से चढ़ाई शुरू की। मेरे साथ कैमूर जिला के उप दण्डाधिकारी तथा मेरे साहित्यिक मित्र डा. तारानन्द वियोगी भी थे। सीढ़ियों के अगल-बगल बिखरे तथा सीढ़ियों में जकड़ दिये गये शिलालेखों की खोज करते हुए उनकी यथासम्भव सफाई कर फोटोग्राफी करते हुए हम दोनों ऊपर चढ़ने लगे। भैरव-शिला एक नीबू पानी की

दुकान है उस दुकानदार ने हमें बतलाया कि पहाड़ी के दक्षिण में लगभग 100 फीट नीचे एक गुफा है जिसे स्थानीय लोग जिहवी गुफा कहते हैं और अकसर ग्रामीण मन्नत पूरा होने पर दीप जलाने उस गुफा में जाते हैं। हमलोगों ने भी वहाँ जाने की इच्छा प्रकट की तो वह खुशी से हमें दिखाने के लिए तैयार हो गया।

सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हम सब अन्तिम चढ़ाई के द्वार तक पहुँचे। वहाँ तक दूसरे रास्ते से सड़क खत्म हो जाती है किन्तु आगे भी सड़क बनने की तैयारी हो रही है। उस सड़क से थोड़ी दूर आगे जाने पर हमलोग चट्टानों पर सँभलकर पैर रखते हुए नीचे उतरे। वहाँ न तो सीढ़ी बनी है न रास्ता का कोई ठिकाना है। पतली झाड़ियों के सहारे उठते-बैठते हमलोग नीचे एक बड़ी चट्टान पर पहुँचे। उस समतल चट्टान के तीन ओर खुला था। नीचे लगभग 500 फीट घाटी थी। जिधर से हमलोग उतरे थे, उधर भी लगभग तीन फीट चौड़ी दराड़ थी।

समतल चट्टान पर अनेक शिलालेख हैं, मयूर, गरुड़ तथा गीध के चित्र उकेरे गये हैं। कुछ अक्षर ब्राह्मी के भी हैं, शेष शंखलिपि में है। आगम-ग्रन्थों में वर्णित साधना-प्रक्रिया के अध्ययन के आधार पर मेरा अनुमान है कि सभी लेख साधकों के बनाये हुए हैं। इन्हें पुराणों में 'आलेपन' कहा गया है, उसका तद्भव रूप 'अल्पना' तथा मिथिला क्षेत्र में 'अरिपन' है। इष्टसिद्धि के लिए साधक यन्त्र बनाकर उसपर ध्यान लगाते हैं। इसे आगम की परम्परा में 'पटल' 'मण्डल' या 'यन्त्र' कहा गया है। एकान्त साधना की यह स्थली है, जहाँ हजारों वर्षों से साधना चलती रही है। यह पूरा चट्टान देवमय है। इसे दर्शनीय बनाया जा सकता है।

इस समतल शिलाखण्ड तथा पहाड़ी के बीच एक दरार होकर हमलोग नीचे उतरे। लगभग 20 फीट नीचे उतरने पर गुफा दिखाई पड़ी। यहाँ दो समानान्तर गुफाएँ हैं, जिनमें दाहिनी ओर की गुफा अपेक्षाकृत लम्बी है तथा आगे जाने पर बायीं ओर मुड़ गयी है। बायीं ओर दोपहर में भी घना अंधेरा था। उस अन्धेरे में भी हमने फ्लैश के सहारे फोटोग्राफी की और गुफा से निकल पड़े। गुफा में दीपों के कुछ टुकड़े दिखाई पड़े। मार्गदर्शक ने बतलाया कि ग्रामीण मन्नत पूरा होने पर यहाँ आकर दीप जलाया करते हैं।

इस गुफा के सामने लगभग 100 फीट दूरी पर दूसरी ऐसी ही गुफा और समतल शिला दिखाई पड़ी जहाँ जाने का रास्ता न होने के कारण हमलोग वहाँ पहुँच नहीं सके, किन्तु वहाँ भी मानव निर्मित गुफा एवं मण्डप दिखाई पड़ रहे थे।

मुख्य मन्दिर में पश्चिमी द्वार के पास भी एक गुफा में उतरने की सीढी होने की जानकारी भी हमें मिली तो यह संभावना लग रही है कि मन्दिर के नीचे कोई गुफा है, जिसके दो द्वार दक्षिणी ढाल पर हैं, जिनमें से एक यही जिहवी माइ की गुफा कहलाती है। इस जिहवी गुफा से लिए गये चित्र को जब बाद में हमने देखा तो उसमें एक तपस्यारत व्यक्ति की आकृति दिखाई दी। उसी आकृति के निकट गुफा का द्वार हो सकता है। इसके उद्भेदन से अनेक तथ्य सामने आ सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्तमान मुण्डेश्वरी परिसर एवं सम्पूर्ण पहाड़ी पर कुषाण काल से पहले से धार्मिक गतिविधि चलती आ रही है। यहाँ की गुफाओं का उद्भेदन होने पर अनेक तथ्य सामने आ सकते हैं। पहाड़ी के ऊपरी तल पर विभिन्न काल में मन्दिर बनाये गये हैं, जिनमें से वर्तमान मन्दिर अपनी प्राचीन भित्ति योजना पर गुप्तकाल में बना हुआ है। इस मन्दिर के मूलनायक चतुर्मुख मण्डलेश्वर महादेव कुषाण काल के हैं और उनसे सम्बद्ध 18 पंक्तियों का शिलालेख कुषाण काल का है। मुण्डेश्वरी की वर्तमान प्रतिमा परवर्ती काल में वर्तमान मन्दिर के दक्षिण में एक मन्दिर में स्थापित की गयी। सम्पूर्ण परिसर में कम से कम 2000 वर्षों से धार्मिक गतिविधि आज तक जारी है।

+++